मुद्रणाधिकारो ग्रन्थकर्त्रा स्वायत्तीकृतः

ओ३म्

कठोपनिषद्

—:※:—

आर्योपदेशक पण्डित बदरीदत्त शर्मकृत
सरलपदार्थसंक्षिप्तभावार्थाभ्यां
समन्विता
या च
पं० तुलसीराम स्वामिना शोधयित्वा
तदीये
मेरठस्थे-स्वामि-मेशीन-यन्त्रालये
मुद्रापिता

द्वितीयवार ६००] [मूल्य ।)

संवत् १९६४ ज्येष्ठ

सूचना

पाठकवर्ग ! यह कठोपनिषद् का सरल भाषानुवाद श्री आप की सेवा में समर्पित किया जाता है । आशा है कि आप इसे सादर स्वीकार करेंगे ॥

ग्रन्थकार

मिलने का पता-

[१] पं० मुकुन्दराम जोशी काशीपुर
ज़िला-नैनीताल

वा [२] स्वामिमेशीन प्रेस मेरठ

वा [३] ग्रन्थकर्त्ता-पता-आर्यसमाज
ठण्डीसड़क कानपुर

ओ३म्

कठोपनिषद् की भूमिका

यह उपनिषद् यजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत है। स में अलङ्कार की रीति पर मृत्यु और नचिकेता के ंवाद द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश किया गया है। इस पर बहुत से लोग यह शङ्का करते हैं कि मृत्यु, जिस के पास नचिकेता को उस के पिता ने भेजा था, वास्तव में कोई ऋषि था या मृत्यु को ही एक व्यक्ति कल्पना कर लिया गया है? जहां तक इस विषय में विचार किया गया है वहां तक यही जाना गया है कि मृत्यु कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। मृत्यु को ही अलङ्कार की रीति पर मनुष्य मान कर कल्पित आख्यान द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश किया गया है क्योंकि इस उपनिषद् में कहीं मृत्यु को यम और कहीं अन्तक नाम से निर्देश किया गया है और यह असमञ्जस विदित होता है कि ऋषि का नाम मृत्यु हो और फिर वह यमादि दूसरे नामों से भी (जो मृत्यु के पर्याय हैं) प्रसिद्ध हो। इस के अतिरिक्त १२ वें श्लोक में नचिकेता स्पष्ट कहता है कि "स्वर्ग में कोई भय नहीं है, न वहां तू है और न बुढ़ापे का डर" इस से स्पष्ट अवगत होता है कि नचिकेता का सङ्केत मृत्यु की ओर है, न कि मृत्यु नाम वाले किसी व्यक्ति विशेष की ओर। परन्तु यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि नचिकेता के पिता का यह कहना कि मैं तुझे मृत्यु को दूंगा और फिर नचिकेता का मृत्यु के पास जाना और तीन दिन रात उस के द्वार पर भूखे पड़े रहना, फिर मृत्यु ने आकर उस

का आतिथ्य करना और तीन दिन तक उस के द्वार पर उपवास करने के प्रायश्चित्त में तीन वर उस को देना इत्यादि। इन सब बातों का क्या अभिप्राय है? इस के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मृत्यु को जब एक व्यक्ति मान लिया गया तो यह भी आवश्यक हुआ कि उस का इस रीति पर वर्णन किया जावे कि जिस से पढ़ने वाले को यह प्रतीत हो कि मृत्यु वास्तव में कोई मनुष्य है और वह मनुष्यों के समान घर में रहता है और कुटुम्ब भी रखता है इत्यादि॥

दूसरी कल्पना इस उपनिषद् को यह भी हो सकती कि न वाजश्रवस कोई व्यक्ति है, न नचिकेता उस का पुत्र है और न मृत्यु ही कोई ऋषि है किन्तु यह सारी उपनिषद् एक अलङ्कार है। "वाजश्रवस" एक यौगिक शब्द है जो "वाज" और "श्रवस्" इन दो शब्दों से मिल कर बना है। वाज नाम यज्ञ का है और श्रवस् कीर्त्ति को कहते हैं। यज्ञ ही जिस की कीर्त्ति हो अर्थात् जो यज्ञ के द्वारा प्रसिद्ध हुवा हो, उसे "वाजश्रवस्" कहते हैं। यहां वाजश्रवस् से अभिप्राय उस मन्तव्य से है जिस के अनुसार केवल यज्ञादि कर्मकाण्ड ही मोक्ष का देने वाला है। इसी प्रकार "नचिकेता" शब्द का अर्थ है "न जानने वाला" अर्थात् संदिग्ध या जिज्ञासु। इस दशा में इस उपनिषद् की सङ्गति इस प्रकार होगी कि मनुष्य केवल कर्मकाण्ड से मोक्ष का भागी कदापि नहीं हो सकता। चाहे वह कितना ही बड़ा भारी यज्ञ क्यों न करे, जब तक उस को आत्मज्ञान नहीं होता तब तक उस को सच्ची शान्ति नहीं मिलती। इस का यह तात्पर्य नहीं है कि

यज्ञादि कर्म अनावश्यक और व्यर्थ हैं, किन्तु ज्ञान की अपेक्षा दूसरी कोटि में हैं। पहिले मनुष्य भ्रान्ति से कर्म को ही साक्षात् मोक्ष का साधन समझता है, अन्त में आकर जब उस को ज्ञान होता है तब वह कर्म की अवरता और ज्ञान की परता को अनुभव करता है और इस लिये इस विचार को यज्ञ का पुत्र कह सकते हैं क्योंकि यज्ञादि कर्म करने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। इस विचार को मृत्यु के पास भेजने का आशय यही है कि जो लोग कर्मकाण्ड ही को सर्वोपरि मानते हैं वे ऐसे विचार से (जिस में ज्ञान का उत्कर्ष पाया जावे) अप्रसन्न होते हैं, और चाहते हैं कि ऐसा विचार उत्पन्न ही न हो और यदि कथञ्चित् उत्पन्न हो जावे तो तुरन्त मृतप्राय हो जावे॥

नचिकेता का मृत्यु के पास जाना और मृत्यु का उस को उपदेश करना वास्तव में सिवाय इस के और कुछ भी नहीं कि मनुष्य जब यह अनुभव कर लेता है कि असार संसार और उस के सब ठाठ सामान सुख सम्पत्ति और विषय भोगों की वासना सब जलतरङ्गवत् अस्थिर हैं, एक दिन अवश्य इस संसार से प्रस्थान करना है और यह सब ठाठ बाठ छोड़ जाना है और यह भी कोई नहीं जान सकता कि किस समय मौत का वारण्ट आ जावे, केवल आत्मा ही अजर अमर है, यदि नित्य आत्मा इन अनित्य पदार्थों के मोह में फंसा रहा और अपनी वास्तविक उन्नति और भलाई के लिये उस ने कुछ यत्न न किया तो यह जीवन ही व्यर्थ हुवा। एतादृश संस्कारों के उदय होने पर ही इस को आत्मतत्व की प्रबल

जिज्ञासा होती है, उस समय वह संसार के समस्त सुखों को आत्मज्ञान के सम्मुख तुच्छ समझता है ॥

नचिकेता ने जो तीन वर मांगे वे ऐसे गम्भीर हैं, जिस में मनुष्य का सारा कर्त्तव्य आजाता है। पहिला वर यह है कि मेरा पिता मुझ से प्रसन्न रहे। इस से प्रकट होता है कि माता पिता और वृद्धों की सेवा मनुष्य का पहिला कर्त्तव्य है। दूसरा वर यह है कि स्वर्ग को दिलाने वाला अग्नि कौन है? जिस के उत्तर में मृत्यु ने कहा है कि तीनों आश्रमों के धर्म का ठीक २ पालन करना ही स्वर्ग का देने वाला अग्नि है। तीसरा वर आत्मज्ञान के विषय में हैं, जिस को पाकर मनुष्य के सारे शोक, मोह और भय निवृत्त हो जाते हैं और वह परमानन्द का अनुभव करता है ॥

सारांश यह है कि जिस मनुष्य को मृत्यु का निश्चय हो जाता है कि एक दिन अवश्य इस संसार को छोड़ना है वह अपने कर्त्तव्य पालन में कटिबद्ध हो जाता है और उस नित्य वस्तु की खोज में अपना सारा पुरुषार्थ लगाता है, फिर कोई प्रलोभन आत्मज्ञान की प्राप्ति से उसे विमुख नहीं कर सकता। सारी उपनिषद् इसी बात का उपदेश करती हैं कि केवल यज्ञादि कर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती, किन्तु उस के लिये आत्मज्ञान का होना परमावश्यक है। परन्तु मनुष्य आत्मज्ञान का अधिकारी तभी हो सकता है जब कि नियमानुसार वर्णाश्रमधर्म का अनुष्ठान करता हुवा अपने कर्त्तव्य का पालन करे। इत्यलम् पल्लवितेन ॥

बदरीदत्त शर्मा

ओ३म्

अथ कठोपनिषत् प्रारभ्यते

तत्र प्रथमा वल्ली

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

[सरलार्थः]-(ह, वै) सुना जाता है कि (वाजश्रवसः) वाजश्रवा के पुत्र ने (उशन्) फल की कामना करते हुवे (सर्ववेदसम्) सर्वस्व को (ददौ) दान किया । (तस्य) उस वाजश्रवस का (ह) प्रसिद्ध (नचिकेता नाम) नचिकेता नाम वाला (पुत्रः) बेटा (आस) था ॥१॥

(भावार्थः) —वाजश्रवा नामक एक ऋषि था और यह नाम उस का इस लिये हुवा कि वह अन्न और विज्ञान के (जो वाज शब्द के वाच्यार्थ हैं) दान करने से प्रख्यात-कीर्त्ति था । उस के पुत्र वाजश्रवस ने फल की कामना से सर्ववेदस नाम यज्ञ किया (जो संन्यास धारण करने के समय किया जाता है) और उस में सर्वस्व को सुपात्रों के लिये दान किया । उस का एक पुत्र था, जिस का नाम नचिकेता था ॥ १ ॥

तꣳ ह कुमारꣳ ह सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥२॥

[सरलार्थः]-(कुमारं सन्तम् ह) बालक होने पर भी (तम् ह) उस नचिकेता को (दक्षिणासु) दान किये हुये पदार्थों के (नीयमानासु) यथायोग्य विभाग करते समय (श्रद्धा) आस्तिकी बुद्धि (आविवेश) प्रविष्ट हुई (सः) वह (अमन्यत) सोचता था कि-॥ २ ॥

(भावार्थः)-यज्ञ में जब ऋत्विजों को वाजश्रवस यथा-योग्य दान का विभाग कर रहा था, उस समय नचि-केता को (यद्यपि अभी वह कुमार ही था तथापि पिता के उपदेश और ज्ञानियों के संसर्ग से सत्कर्मों में उस की निष्ठा उत्पन्न हो गई थी) यह ध्यान आयाः-॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दानामतेलोकास्तान् सगच्छति तादद३

[सरलार्थः]-जो गायें (पीतोदकाः) जल पी चुकी हैं (जग्धतृणाः) तृण भक्षण कर चुकी हैं (दुग्धदोहाः) दूध जिन का दुहा जा चुका है (निरिन्द्रियाः) सन्ता-नोत्पत्ति करने में असमर्थ हो गई हैं, (ताः) उन को जो (ददत्) दान करता है (सः) वह (अनन्दा नाम ते लोकाः) आनन्दरहित जो लोक हैं (तान्) उन को (गच्छति) जाता है ॥ ३ ॥

(भावार्थः)-जो पहिले खा पी चुकीं और दूध भी दे चुकीं, अब बुड्ढी हो जाने से न तो खा पी सकतीं हैं और न दूध ही दे सकतीं हैं। एवं सन्तान उत्पन्न करने

में भी असमर्थ हो गई हैं, ऐसी गायों को दान करने से दाता को अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है। फिर मेरा पिता क्यों ऐसी गौवों को दान कर रहा है? मैं उस को जहां तक हो सकेगा, इस अनिष्टापत्ति से निवृत्त करूंगा। चाहे इस में मेरा शरीर भी लग जावे। यह सोच कर वह पिता के समीप जाकर बोला—॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति द्वितीयं तृतीयम्। तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

[सरलार्थः]-(सः ह) वह नचिकेता (पितरम्) पिता से (उवाच) बोला-(तत) हे तात! (माम्) मुझ को (कस्मै) किस के लिये (दास्यसि) दोगे? पिताने बालक समझ कर उपेक्षा की, तब उस ने (द्वितीयम्) दोबारा (तृतीयम्) तिबारा उक्त वाक्य कहा कि मुझे किस के लिये दोगे? तब पिता क्रुद्ध होकर (तम्) उस से (उवाच) बोला कि (मृत्यवे) मौत के लिये (त्वा) तुझ को (ददामि इति) दूंगा ॥४॥

(भावार्थः) नचिकेता ने पिता से कहा कि आपने सर्ववेदस (जिस में सब कुछ दान कर दिया जाता है) यज्ञ किया है और इसीलिये आप सब कुछ दान करचुके हैं। अब एक मैं शेष रहा हूं, सो मुझे आप किस के लिये दोगे? पिता ने बालक समझ कर उपेक्षा की। तब उस ने पुनः पुनः अनुरोधपूर्वक कहा कि मुझ को किस के लिये

दोगे? तब पिता ने क्रुद्ध होकर कहा कि तुझे मौत के लिये दूंगा ॥४॥ नचिकेता ने ससंकोच पिता से कहा कि–

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः। किꣳ स्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥५॥

[सरलार्थः]–(बहूनाम्) बहुतसे शिष्यों में मैं (प्रथमः) मुख्य (एमि) समझा जाता हूं। (बहूनां) बहुतसों में (मध्यमः) मध्यम (एमि) माना जाता हूं (यमस्य) मृत्यु का (किं स्वित्) क्या (कर्त्तव्यम्) करने योग्य काम है (यत्) जो (मया) मुझ से (अद्य) आज (करिष्यति) करावेगा ॥५॥

(भावार्थः) पिता की यह क्रूर आज्ञा सुनकर नचिकेता कहने लगा कि मैं बहुत से शिष्यों में मुख्य और बहुत सों में मध्यम हूं, किन्तु किन्हीं की अपेक्षा निकृष्ट नहीं हूं, फिर मौत का क्या काम अटका पड़ा है, जो वह आज मुझ से करावेगा ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे। सस्य-मिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

[सरलार्थः] पिता ने उत्तर दिया कि (यथा) जैसे (पूर्वे) पहिले लोग मृत्यु को प्राप्त हुवे हैं उन को (अनुपश्य) पीछे देख (तथा) ऐसे ही (परे) अगले लोगों की गति को (प्रतिपश्य) आगे देख कि (मर्त्यः) प्राणी (सस्यम् इव) यवादि के सदृश (पच्यते) जीर्ण होकर मरता है (पुनः)

फिर (सस्यम् इव) धान्य के ही सदृश (आजायते) उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

(भावार्थः) वाजश्रवस नचिकेता से कहता है कि हे पुत्र ! पिछले तथा अगले लोगों की गति (परिणाम) को देख क्योंकि यह संसार अनित्य है । इस में जैसा अन्न क्षेत्र में पक कर वृक्ष से अलग हो जाता है, ऐसे ही प्राणी वृद्ध एवं जीर्ण होकर चोला छोड़ देता है और जैसे फिर बीज क्षेत्र में पड़ कर उत्पन्न होता है, ऐसे ही गर्भाशय में आकर यह भी जन्म धारण करता है । इस लिये तू इस अनित्य शरीर का मोह मत कर क्योंकि इस के नाश के पश्चात् दूसरा देह अवश्य मिलता है ॥ ६ ॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्। तस्यै-ताᳬशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

[सरलार्थः] हे (वैवस्वत !) विवस्वान् के पुत्र यम ! आप के (गृहान्) घरों में (वैश्वानरः) अग्नि के समान तेजस्वी (ब्राह्मणः) विद्या और तप से युक्त (अतिथिः) अभ्यागत (प्रविशति) आया हुआ है, (तस्य) ऐसे ब्रह्मचारी को [सज्जन धर्मात्मा लोग] (एताम्) इस सत्कारपूर्वक (शान्तिम्) प्रसन्नता को (कुर्वन्ति) करते हैं, [अतः आप पाद्यादि के लिये] (उदकम्) जलादि को (हर) प्राप्त कीजिये ॥ ७ ॥

(भावार्थः) इस प्रकार पिता के वाक्य को सुनकर नचि-

केता मृत्यु के द्वार पर पहुंचा, वहां पहुंच कर तीन रात तक आतिथ्य की प्रतीक्षा करता हुवा विना अन्न जल के रहा। जब किसी ने इस की बात न पूछी तो चौथे दिन उस ने स्वयं मृत्युदेव से कहा कि हे वैवस्वत ! * आप के घर में अग्नि के समान तेजस्वी, वर्चस्वी, ब्रह्मचारी अतिथिरूप से आया है। उस के आतिथ्य के लिये आप जलादि का आहरण कीजिये, क्योंकि सज्जन पुरुष अतिथिसत्कार को अपना मुख्यकर्त्तव्य समझते हैं ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृताञ्चेष्टापूर्ते पुत्र-पशूꣳश्च सर्वान्। एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्प-मेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥

[सरलार्थः] (यस्य पुरुषस्य) जिस पुरुष के (गृहे) घर में (ब्राह्मणः) ब्रह्मवित् अतिथि (अनश्नन्) निराहार (वसति) रहता है (तस्य अल्पमेधसः) उस अल्पबुद्धि के (आशाप्रतीक्षे) ज्ञात वस्तु की चाहना आशा और अज्ञात वस्तु की कामना प्रतीक्षा कहलाती है। इन दोनों (सङ्गतम्) सत्सङ्गति से होने वाले फल (सूनृताम्) प्रिय वाणी (च) उस की निमित्त दयादि (इष्टापूर्ते) यज्ञादि श्रौत कर्म के फल को इष्ट और अनाथरक्षणादि

* विवस्वान् नाम सूर्य का है, उस का पुत्र मृत्यु को इस लिये कहा कि सूर्य ही अपने उदयास्त से आयु का आदान करता है और इसी लिये उस को आदित्य भी कहते हैं॥

स्मार्त कर्म के फल को पूर्त कहते हैं, इन दोनों को भी (च) और (सर्वान्) सब (पुत्रपशून्) पुत्र और पशु (एतत्) इन सब को (वृङ्क्ते) [सत्कार न किया हुआ अतिथि] नाश करता है ॥ ८ ॥

भावार्थः–इस श्लोक में जो अतिथि का सत्कार नहीं करते उन के प्रति अनिष्ट फल का निर्देश किया गया है। पारिषद्गण पुनः मृत्यु से कहते हैं कि जिस के घर से अतिथि भूखा जाता है उस के उक्त शुभ कर्मों के फल को भी वह अपने साथ ले जाता है । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है–" अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते । स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥ " अर्थ–जिस के घर से अतिथि निराश होकर लौटता है, वह उस का पुण्य लेकर और पाप उसे देकर जाता है ॥

इस लिये इस अतिथि का यथायोग्य सत्कार करना चाहिये, जिस से कि सुकृत का विलोप न हो ॥ ८ ॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः । नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् ! स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व॥९॥

सरलार्थः–(ब्रह्मन् !) हे ब्रह्मवित् ! आप (अतिथिः) आगमनतिथि के नियत न होने से अतिथि हैं अतएव (नमस्यः) नमस्कार करने के योग्य हैं (ते) आप के लिये (नमः) प्रणाम (अस्तु) हो । (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण

(अस्तु) हो। हे (ब्रह्मन्!) ब्राह्मण! (यत्) जो आप (मे) मेरे (गृहे) घर में (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्रि (अनश्नन्) अन्न जल के विना (अवात्सीः) बसे (तस्मात्) इस कारण (प्रति) प्रति रात्रि एक २ के हिसाब से (त्रीन् वरान्) तीन वरों को (वृणीष्व) अङ्गीकार करें॥

भावार्थः—पारिषदों के इस प्रकार निवेदन करने पर मृत्यु नचिकेता को सम्बोधन करके कहता है कि-हे ब्रह्मन्! आप अतिथि होने से नमस्करणीय हैं, अतः आप के लिये मैं प्रणाम करता हूं। आप के आशीर्वाद से मेरा कल्याण हो। पुनः अपने अपराध की क्षमा चाहता हुआ मृत्यु नचिकेता से यह आशीष् करता है कि-हे ब्रह्मन्! आप मेरे घर में तीन रात्रि बराबर (यथोचित) बिना आहार के रहे हैं, इस लिये आप प्रतिरात्रि एक एक के हिसाब से तीन वर (जो मैं आप को देना चाहता हूं) अङ्गीकार कीजिये॥९॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्यु-
र्गौतमो माभिमृत्यो!। त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्
प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥१०॥

सरलार्थः—(मृत्यो!) हे मृत्यु! (गौतमः) गोतमगोत्रीय मेरा पिता (मा अभि) मेरे प्रति (शान्तसङ्कल्पः) शान्तचित्त, (सुमनाः) प्रसन्नमन, (वीतमन्युः) विगतरोष (यथा) जैसे (स्यात्) होवे, (त्वत्प्रसृष्टं) आपके भेजे

हुवे (मा अभि) मुझ को देख कर (प्रतीतः सन्) लब्धस्मृति होकर [कि यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, जिस को मैंने मृत्यु के पास भेजा था] (वदेत्) बोले। (एतत्) यह (त्रयाणां) तीन में से (प्रथमम्) पहिला (वरम्) वर (वृणे) चाहता हूं ॥ १० ॥

भावार्थः–मृत्यु के उक्त वचन को सुन कर नचिकेता ने कहा कि जैसे मेरा पिता मुझ पर प्रसन्न और कृपालु हो जावे, अर्थात् इस बीच के उत्पन्न हुवे क्रोध को त्याग कर पूर्ववत् वर्त्तने लगे और आप के भेजे हुवे मुझ को पहचान कर कि यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है जिस को मैंने मृत्यु के पास भेजा था, प्रीतिपूर्वक सम्भाषण करे और कुशलक्षेमादि पूछे। यह मैं उन तीन वरों में से (जो आप मुझे देना चाहते हैं) पहला वर आप से मांगता हूं ॥१०॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः। सुखꣳरात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥ ११ ॥

सरलार्थः–(औद्दालकिः) उद्दालकवंशी (आरुणिः) अरुण* का पुत्र तेरा पिता (यथा) जैसा (पुरस्तात्) पहले था वैसा ही (मत्प्रसृष्टः) मुझ से प्रेरित वा बोधित होकर (प्रतीतः) तुझ पर विश्वास करने वाला (भविता) अवश्य होगा, (रात्रीः) शेष रात्रियों में भी (सुखम्)

* यह वाजश्रवा का दूसरा नाम था ॥

सुख से (शयिता) सोवेगा और (वीतमन्युः) विगतरोष होकर (त्वाम्) तुझ को (मृत्युमुखात्) मौत के मुंह से (प्रमुक्तम्) छुटा हुवा (ददृशिवान्) देखेगा ॥ ११ ॥

भावार्थः-इस प्रार्थना को सुन कर मृत्यु नचिकेता से कहता है कि तेरा पिता जैसा पहले तुझ से स्नेह भाव रखता था वैसा ही अब मुझ से प्रेरित होकर तुझ पर दयालु होगा और अब विगतरोष होकर शेष रात्रियों में सुखपूर्वक सोवेगा और तुझे मौत के मुंह से छुटा हुवा पाकर अत्यन्त हर्षित होगा ॥ ११ ॥

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति । उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

सरलार्थः-(स्वर्गे लोके) स्वर्गलोक=मोक्ष में (किञ्चन) कुछ भी (भयम्) भय (न अस्ति) नहीं है, (न तत्र) न वहां पर (त्वं) तू=मृत्यु है और (न) न कोई (जरया) बुढ़ापे से (बिभेति) डरता है, (अशनायापिपासे) भूख और प्यास (उभे) दोनों को (तीर्त्वा) तरकर (शोकातिगः) शोक से वर्जित पुरुष (स्वर्गलोके) मोक्ष में (मोदते) आनन्द करता है ॥१२॥

भावार्थः-नचिकेता द्वितीय वर की याचना करता हुवा मृत्यु से कहता है कि स्वर्गलोक में कुछ भी भय नहीं है। वहां पर न रोग ही होते हैं और न बुढ़ापा ही किसी को सताता है और तू=मृत्यु भी वहां पर आक्रमण नहीं करता।

उस स्वर्गलोक में जीवात्मा भूख प्यास, शीत उष्ण, सुख दुःख इत्यादि द्वन्द्वों को जीत कर शोक रहित हो आनन्द करता है ॥ १२ ॥

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो! प्रब्रूहि तꣳ श्रद्दधानाय मह्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

सरलार्थः-(मृत्यो !) हे मृत्यु ! (सः त्वम्) सो तू (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग के साधनभूत (अग्निम्) ज्ञानाग्नि को (अध्येषि) जानता है (तम्) उस को (श्रद्दधानाय) श्रद्धा रखते हुवे (मह्यम्) मेरे लिये (प्रब्रूहि) वर्णन कर [जिस के यथायोग्य अनुष्ठान करने से] (स्वर्गलोकाः) स्वर्ग के अधिकारी जन (अमृतत्वम्) अमरत्व को (भजन्ते) सेवन करते हैं । (एतद्) यह (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर से (वृणे) मांगता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थः—नचिकेता पुनः कहता है कि उस स्वर्ग के साधनभूत ज्ञानाग्नि को आप भले प्रकार जानते हैं । कृपया मुझ श्रद्धालु के प्रति भी उस का उपदेश कीजिये, जिस से मैं भी अमरत्व को प्राप्त होकर स्वर्ग का अधिकारी बनूं । यह मैं दूसरे वर से मांगता हूं ॥ १३ ॥

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निन्नचिकेतः प्रजानन् । अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

सरलार्थः-(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग के साधनभूत (अग्निम्) ज्ञानाग्निको (प्रजानन्) जानता हुवा (ते) तेरे लिये (तत्) उस विद्या को (प्रब्रवीमि) मैं कहता हूं (मे) मेरे वचन को (निबोध) सुन वा जान (अथो) इस के अनन्तर (त्वम्) तू (एनम्) इस अग्नि को (अनन्तलोकाप्तिम्) विविध स्थानों में प्राप्त कराने वाला (प्रतिष्ठाम्) जगत् की स्थिति का हेतु (गुहायाम्) बुद्धि में (निहितम्) स्थित वा व्याप्त (विद्धि) जान ॥ १४ ॥

भावार्थः-मृत्यु नचिकेता से कहता है कि मैं ज्ञानाग्नि को, जिस का मुझे पूर्ण अनुभव है, तेरे प्रति उपदेश करता हूं, तू सावधान होकर सुन। जिस अग्नि को जानने से मनुष्य पृथिवीस्थ वा अन्तरिक्षस्थ अनेक स्थानों में अनायास जा आ सकता है और जो सारे जगत् की स्थिति का हेतु है। यह बुद्धि से जाना जाता है ॥ १४ ॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै याइष्टका यावतीर्वा यथा वा। स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

सरलार्थः-(तस्मै) उस नचिकेता के लिये (लोकादिम्) सृष्टि की आदि में उत्पन्न अथवा दर्शन के हेतु (तम्) उस (अग्निम्) अग्नि का (उवाच) व्याख्यान किया [और उस अग्नि से सिद्ध होने वाले ज्ञानयज्ञादि में] (याः)

जो (वा) या (यावतीः) जितनी (वा) या (यथा) जिस प्रकार से (इष्टकाः) ईंटें चिननी चाहियें वा जिस प्रकार अग्निचयन करना चाहिये, यह सब वर्णन किया (सः च अपि) उस नचिकेता ने भी (यथा) जिस प्रकार (उक्तम्) मृत्यु ने उपदेश किया था (तत्) उस को (प्रति अवदत्) प्रत्यक्ष अनुवाद करके सुनाया (अथ) इस के अनन्तर (अस्य) इस के ऊपर (मृत्युः) मृत्यु (तुष्टः सन्) प्रसन्न होता हुआ (पुनः एव) फिर भी (आह) बोला-१५

भावार्थः- उपनिषत्कार कठ ऋषि कहते हैं कि मृत्यु ने नचिकेता के प्रति उक्त अग्नि का सविस्तर व्याख्यान किया और ज्ञानयज्ञ के लिये उपयोगी वेदि तथा अग्निचयन की विधि भी बतलाई, जिस को उस ने धारण करके प्रत्यक्ष अनुवाद भी कर दिया। जिस से प्रसन्न होकर मृत्यु फिर उस से कहता है-॥ १५॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

सरलार्थः-(महात्मा) उच्चभाव से भावित मृत्यु (प्रीयमाणः) प्रसन्न होकर (तम्) उस नचिकेता से (अब्रवीत्) बोला कि-(भूयः) फिर भी (इह) इस दूसरे वर के प्रसङ्ग में (तव) तेरे लिये (अद्य) इस समय

(वरम्) वर को (ददामि) देता हूं (अयम्) यह विधान किया हुआ (अग्निः) अग्नि (तव, एव) तेरे ही (नाम्ना) नाम से प्रसिद्ध (भविता) होगा (च) और (इमाम्) इस (अनेकरूपाम्) चित्र विचित्र (सृङ्काम्) माला वा प्रतिष्ठा को (गृहाण) स्वीकार कर ॥ १६ ॥

भावार्थः-नचिकेता की योग्यता से प्रसन्न होकर मृत्यु उस से कहता है कि मैं इस दूसरे वर के साथ ही एक और वर तुझे देना चाहता हूं और वह यह है कि यह अग्नि जिस का मैंने तेरे प्रति उपदेश किया है, तेरे ही (नाचिकेत) नाम से प्रसिद्ध होगा। अब तू मेरी दी हुई इस प्रतिष्ठा वा माला को ग्रहण कर ॥ १६ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्त-
रति जन्ममृत्यू। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदि-
त्वा निचाय्येमाꣳशान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

सरलार्थः-(त्रिणाचिकेतः) नचिकेता के प्रति जिस का विधान किया गया वह "नाचिकेत" अग्नि कहलाता है उस को जो तीन वार चयन करे वह पुरुष (त्रिभिः) तीन से (सन्धिम्) सम्बन्ध को (एत्य) प्राप्त होकर (त्रिकर्म-कृत्) तीन कर्म करने वाला (जन्ममृत्यू) जन्म और मरण के (तरति) पार होजाता है (ब्रह्मजज्ञम्) वेद रूप ज्ञान के उत्पन्न और धारण करने वाले (ईड्यम्) स्तुति के योग्य (देवम्) परमात्मा को (विदित्वा) जान

कर और (निचाय्य) निश्चय करके (अत्यन्तम्) अतिशय (शान्तिम्) शान्ति को (एति) प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

भावार्थः-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों में आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नाम से ३ अग्नियों को चयन करने वाला पुरुष-माता पिता एवं आचार्य इन तीन उपदेष्टाओं के सत्सङ्ग तथा उपदेश से यज्ञ, अध्ययन और दान इन तीन कर्मों का यथायोग्य अनुष्ठान करता हुवा जन्म और मरण के बन्धनों को शिथिल करता है, तत्पश्चात् प्रज्ञानमय ब्रह्म को जान कर परमशान्ति (मुक्ति) का अधिकारी बनता है ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्। स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

सरलार्थः-(यः) जो (विद्वान्) ज्ञानवान् (त्रिणाचिकेतः) उक्त विधि से तीन बार चयन करने वाला पुरुष (एतत्, त्रयम्) इस तिगड्डे को (विदित्वा) जान कर (एवं) इस प्रकार (नाचिकेतम्) नाचिकेत अग्नि को (चिनुते) चयन करता है (सः) वह (मृत्युपाशान्) मौत के बन्धनों को (पुरतः) आगे से (प्रणोद्य) छिन्न भिन्न कर (शोकातिगः) शोक से रहित होकर (स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में (मोदते) आनन्द करता है ॥ १८ ॥

भावार्थः-जो मनुष्य उक्त तीनों आश्रमों में उक्त तीनों शिक्षकों से ज्ञान प्राप्त करके उक्त तीनों प्रकार के कर्मों का यथाविधि सेवन करता हुआ नाचिकेत अग्नि का सञ्चयन करता है, वह आगे होने वाले मौत के बन्धनों को तोड़ कर स्वर्ग में आनन्द करता है ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः! स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण। एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९॥

सरलार्थः-(नचिकेतः) हे नचिकेता! (एषः) यह (अग्निः) ज्ञानाग्नि (स्वर्ग्यः) स्वर्ग का उपयोगी (ते) तुम्हारे लिये कहा गया (यम्) जिस को (द्वितीयेन वरेण) दूसरे वर से (अवृणीथाः) तुमने मांगा था (एतम्) इस (अग्निम्) अग्नि को (तव एव) तुम्हारे ही नाम से (जनासः) मनुष्य लोग (प्रवक्ष्यन्ति) कहेंगे। (नचिकेतः) हे नचिकेता! (तृतीयम् वरम्) तीसरे वर को (वृणीष्व) मांग ॥ १९ ॥

भावार्थः-मृत्यु कहता है कि हे नचिकेतः! यह स्वर्ग का सोपान अग्नि, जिस को तैंने दूसरे वर से मांगा था, मैंने तेरे लिये दिया और इस अग्नि को तेरे ही नाम से प्रसिद्ध भी किया। अब तू तीसरा वर मांग ॥ १९ ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्ट-स्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

सरलार्थः—(मनुष्ये प्रेते) मनुष्य के मरने पर (अ-यम्) यह आत्मा (अस्ति इति एके) है ऐसा कोई मानते हैं (च) और (न अस्ति इति एके) नहीं है, ऐसा अनेक लोग मानते हैं, इस प्रकार (या) जो (इयम्) यह (विचिकित्सा) सन्देह है सो (त्वया) आप से (अनु-शिष्टः) उपदेश पाया हुवा (अहम्) मैं (एतत्) इस आत्मवस्तु को (विद्याम्) जानूं । (वराणाम्) वरों में (एषः) यह (तृतीयः) तीसरा (वरः) वर है ॥ २० ॥

भावार्थः—उक्त दोनों वरों को पाकर नचिकेता मृत्यु से कहता है कि मनुष्य के मरने पर जो यह संशय होता है कि देहादि से व्यतिरिक्त कोई आत्मा है या नहीं ? इस को मैं आप से उपदेश पाकर जानना चाहता हूं । यही मेरा तीसरा वर (अभीष्ट) है ॥ २० ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुवि-ज्ञेयमणुरेष धर्मः । अन्यंवरंनचिकेतोवृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

सरलार्थः—(पुरा) पहले (अत्र) इस आत्मिक विषय में (देवैः अपि) देवताओं ने भी (विचिकित्सितम्)

सन्देह किया था (हि) निश्चय (एषः) यह आत्म-ज्ञानरूप (धर्मः) धर्म विषय (अणुः) अति सूक्ष्म होने से (सुविज्ञेयम्) सुगमता से जानने योग्य (न) नहीं है, अत एव (नचिकेतः) हे नचिकेता! तुम (अन्यं वरम्) और वर को (वृणीष्व) मांगो (मा) मुझ को (मा उपरोत्सीः) ऋणी के तुल्य मत दबाओ (मा) मेरे प्रति (एनम्) इस वर को (अति सृज) त्याग दो ॥ २१ ॥

भावार्थः-इस तीसरे वर को सुन कर मृत्यु नचिकेता की परीक्षा करने के लिये कि यह आत्मज्ञान का अधिकारी है या नहीं? उस से कहता है कि-इसी विषय पर पहले बड़े २ विद्वानों के सन्देह और वाद होचुके हैं, वे भी पूर्णरूप से इस की मीमांसा न कर सके, क्योंकि यह विषय अतिसूक्ष्म होने से दुर्ज्ञेय है और यह भी सम्भव नहीं कि इस में प्रवृत्त होने से प्रत्येक मनुष्य कृतकार्य हो ही जावे। अतएव हे नचिकेता! तुम और कोई वर, जिस के फल में सन्देह न हो, मुझ से मांगो। मुझे अधमर्ण के समान मत दबाओ और इस वर की हठ छोड़ दो ॥ २१ ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वञ्च मृत्यो! यन्न सुविज्ञेयमात्थ। वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

सरलार्थः-(मृत्यो!) हे अन्तक! (अत्र) इस विषय पर (देवैः अपि) बड़े २ विद्वानों ने भी (विचिकित्सितम्)

सन्देह वा अन्वेषण किया है (त्वं च किल) और तू भी (यत् सुविज्ञेयं न) जो सुगमता से जानने के योग्य नहीं है ऐसा (आत्थ) कहता है (अस्य) इस विषय का (वक्ता) कहने वाला (त्वादृक्) तेरे तुल्य (अन्यः) और (न लभ्यः) नहीं मिल सकता (च) और (एतस्य) इस वर के (तुल्यः) बराबर (अन्यः कश्चित् वरः न) और कोई वर नहीं है ॥ २२ ॥

भावार्थः—उक्त वर्जन सुन कर नचिकेता बोला कि—हे मृत्यु ! जब बड़े २ विद्वानों ने इस विषय की मीमांसा और आलोचना की है और तू भी इसको अतिसूक्ष्म और दुर्ज्ञेय बतलाता है, इसी से इस का परमोत्तम और सर्वोपरि होना अनुमान किया जाता है और तेरे समान उपदेष्टा मुझे कहां मिलेगा ? जो ऐसे गहन और कठिन विषय को मेरे हृदयङ्गम और बुद्धिगोचर करेगा। अतः मेरी सम्मति में इस के बराबर और कोई वर नहीं है ॥२२॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

सरलार्थः—(शतायुषः) सौ वर्ष पर्यन्त जीने वाले (पुत्रपौत्रान्) बेटे पोतों को (वृणीष्व) मांग और (बहून् पशून्) बहुत से गाय बैल आदि पशु (अश्वान्) घोड़े (हस्तिहिरण्यम्) हाथी और सुवर्ण आदि तथा (भूमेः) पृथिवी के (महत्) बड़े (आयतनम्) माण्डलिक राज्य

को (वृणीष्व) मांग (स्वयं च) और तू भी (यावत्) जितने (शरदः) वर्ष (इच्छसि) चाहता है (जीव) जीवन धारण कर ॥ २३ ॥

भावार्थः--नचिकेता का तद्विषयक आग्रह सुनकर फिर भी मृत्यु उस को प्रलोभन देता हुवा कहता है कि--दीर्घजीवी पुत्र, पौत्र, गौ, अश्व, हस्ती आदि उत्तम २ पशु, सुवर्ण आदि बहुमूल्य पदार्थ, पृथिवी के एक मण्डल का राज्य; यह सब मुझ से मांग, मैं तुझे दूंगा । यदि इस में यह शङ्का हो कि अपने विना यह सब तुच्छ हैं तो अपना जीवन भी जितना चाहता है, मांग ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च । महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

सरलार्थः--(यदि) जो (एतत्) इस उक्त वर के (तुल्यम्) बराबर (वरम्) वक्ष्यमाण वर को (मन्यसे) मानता है तो (वित्तम्) ऐश्वर्य के साधन धन (च) और (चिरजीविकाम्) सदा की आजीविका को (वृणीष्व) मांग । (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (त्वम्) तू (महाभूमौ) बड़ी पृथिवी पर (एधि) बढ़ने वाला हो अर्थात् सार्वभौम राज्य को प्राप्त हो (त्वा) तुझ को (कामानाम्) सम्पूर्ण कामनाओं का (कामभाजम्) भोग करने वाला (करोमि) करता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थः--पुनः मृत्यु कहता है कि यदि तू उक्त वर के तुल्य सदा की आजीविका और प्रभूत धन को समझता है

तो उस को भी मांग और यदि इन सब से बढ़ कर सार्वभौम राज्य का अभिलाष है तो वह भी मैं तेरे लिये दे सकता हूं और तेरी जो कामना हो उसे पूर्ण कर सकता हूं ॥२४॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्त्यलोके सर्वान् कामा-ँ्श्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

सरलार्थः—(मर्त्यलोके) पृथिवी में (ये ये) जो जो (कामाः) कामनायें (दुर्लभाः) दुर्लभ हैं उन (सर्वान्) सब (कामान्) कामनाओं को (छन्दतः) यथेष्ट (प्रार्थयस्व) मांग। (इमाः) ये (सरथाः) रथादि यानों सहित (सतूर्याः) वादित्रादि सहित (रामाः) रमणीय स्त्रियां हैं (आभिः) इन (मत्प्रत्ताभिः) मेरी दी हुई युवतियों से (परिचारयस्व) अपनी सेवा शुश्रूषा कराओ। (हि) निस्सन्देह (ईदृशाः) ऐसी स्त्रियां (मनुष्यैः) साधारण मनुष्यों से (न लम्भनीयाः) अप्राप्य हैं। (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (मरणम्) मौत को (मा अनुप्राक्षीः) मत पूछ ॥ २५ ॥

भावार्थः—पुनः मृत्यु कहता है कि जो २ कामनायें इस मर्त्यलोक में दुष्प्राप्य हैं, उन सब को यथारुचि मांग और ये विविध यान एवं वादित्रादि सहित जो मनोहारिणी स्त्रियां हैं इन के साथ रमण कर। ऐसी रूप-

वती स्त्रियां मनुष्यों को दुर्लभ हैं। हे नचिकेता! ऐसे दिव्य पदार्थों को छोड़ कर मौत का प्रश्न क्यों करता है? ॥२५॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

सरलार्थः--(अन्तक!) हे मृत्यु! (यत्) क्योंकि (श्वोभावाः) कल ही कल (मर्त्यस्य) मनुष्य की (सर्वेन्द्रियाणाम्) सब इन्द्रियों के (एतत्) इस (तेजः) तेज का (जरयन्ति) नाश करदेती हैं। (सर्वम् अपि जीवितम्) सब जीवन भी (अल्पम् एव) अल्प ही है [अतएव प्राणी] (तव एव) तेरे ही (वाहाः) वाहन रहे [और] (नृत्यगीते) नाचना, गाना भी (तव) तेरा ही रहा ॥ २६ ॥

भावार्थः--इस प्रकार बहुविध प्रलोभित किया हुआ भी नचिकेता अपने अभीष्ट वर को नहीं त्यागता और मृत्यु से कहता है कि यह सब कल ही कल में बीतने वाले समय, इन्द्रियोंकी शक्ति को नष्ट करने वाले हैं और समस्त जीवन भी चाहे उस की पूर्ण अवधि ही क्यों न हो, मुक्तिसुख की अपेक्षा अल्प ही है क्योंकि यह सब मिलने पर भी अन्त में तो तेरे ही आधीन रहना पड़ा और तू (मृत्यु) ही शिर पर नाचता रहा ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्त

मद्राक्ष्म चेत्त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्य-
सि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

सरलार्थः–(मनुष्यः) प्राणी (वित्तेन) धन से (न तर्पणीयः) तृप्त नहीं हो सकता (चेत्) जो (त्वा) तुझ मौत को (अद्राक्ष्म) हम ने देखा तो (वित्तम्) ऐश्वर्यभोग को (लप्स्यामहे) प्राप्त होंगे (यावत्) जब तक (त्वम्) तू (ईशिष्यसि) चाहेगा तब तक (जीविष्यामः) जीवेंगे। अतः (मे) मुझ को (वरः तु) वर तो (स एव) वह ही (वरणीयः) मांगना है ॥ २७ ॥

भावार्थः–पुनः नचिकेता कहता है कि धन से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती और यदि तुझ को देखेंगे तो धन मिलेगा, इस लिये मुझे धन की स्पृहा नहीं है और जीवन भी जब तक तू (मृत्यु) न हो तभी तक है, अतएव इस की भी आकाङ्क्षा नहीं है। वर तो मेरा केवल वही प्रार्थनीय है, जिस की याचना मैं कर चुका हूं ॥ २७ ॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यःक्व-
धःस्थः प्रजानन्। अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमो-
दानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

सरलार्थः–(अजीर्यताम्) जरा से जीर्ण न होने वाले (अमृतानाम्) मुक्त पुरुषों को (उपेत्य) प्राप्त होकर (क्वधःस्थः) पृथिवी के अधोभाग में स्थित (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (जीर्यन्) शरीरादि के नाश का अनुभव

करता हुआ (वर्णरतिप्रमोदान्) सुन्दर वर्ण और सुरत-जन्य विनश्वर सुखों को (अभिध्यायन्) शोचता हुवा (कः) कौन (प्रजानन्) जानता हुवा (अतिदीर्घे जीवते) बहुत बड़े जीवन में (रमेत) रमण करे ॥ २८ ॥

भावार्थः–नचिकेता पुनः कहता है कि मरणरहित मुक्त पुरुषों को पाकर एवम् सांसारिक सुखभोगों की विनश्वरता को देखता हुवा कौन ऐसा निकृष्ट दशा में स्थित प्राणी है, जो मुक्ति जैसे उच्चकक्षा के सुख को छोड़ कर अतिदीर्घकालीन जीवन की (जो नाना प्रकार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों से परिपूर्ण है) इच्छा करे ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्प-राये महति ब्रूहि नस्तत्। योऽयं वरो गूढमनु-प्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

सरलार्थः–(मृत्यो!) हे मृत्यु! (यस्मिन्) जिस आत्म-ज्ञान विषय में (इदम्) आत्मा कोई है वा नहीं ? यदि है तो कहां है ? और कैसा है ? इत्यादि प्रकार से (वि-चिकित्सन्ति) सन्देह करते हैं (यत्) जो (महति) अनन्त (साम्पराये) परमार्थ दशा में [प्राप्त किया जाता है] (तत्) उस आत्मज्ञान का (नः) हमारे प्रति (ब्रूहि) उपदेश कर (यः) जो (अयम्) यह प्रसङ्गप्राप्त (गूढम्) गुप्त (वरः)

वर (अनुप्रविष्टः) मेरे मन में समाया हुआ है (तस्मात्) उस से (अन्यम्) भिन्न वर को (नचिकेता) मैं (न वृणीते) नहीं चाहता ॥ २९ ॥

भावार्थः—नचिकेता पुनरपि कहता है कि हे मृत्यु ! जिस आत्मा के विषय में लोग अनेक प्रकार से सन्देह करते हैं और जो केवल पारमार्थिक दशा में जाना जाता है, उसी आत्मतत्त्व का मेरे प्रति उपदेश कर । यह मेरा गूढ़ अभीष्ट, जो मेरे हृदय में समाया हुआ है, उस से भिन्न और कोई वर मैं नहीं चाहता ॥ २९ ॥

इति कठोपनिषदि प्रथमा वल्ली समाप्ता

—:०*०:—

अथ द्वितीया वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः । तयोःश्रेयआददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयोवृणीते ॥१॥ (३०)

सरलार्थः—(श्रेयः) निःश्रेयसरूप कल्याण का मार्ग (अन्यत्) और है (उत) और (प्रेयः) अभ्युदयरूप रोचक मार्ग (अन्यत् एव) और ही है (ते) वे श्रेय और प्रेय (उभे) दोनों (नानार्थे) भिन्न २ प्रयोजन वाले (पुरुषम्) मनुष्य को (सिनीतः) वासनारूप रज्जु में बांधते हैं (तयोः) उन दोनों में से (श्रेय आददानस्य) श्रेय ग्रहण

करने वाले का (साधु) कल्याण (भवति) होता है (य उ) और जो (प्रेयः) प्रेय को (वृणीते) ग्रहण करता है वह (अर्थात्) परमार्थ रूप प्रयोजन से (हीयते) भ्रष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

भावार्थः—जब ऐसे २ प्रलोभन देने पर भी नचिकेता अपने सङ्कल्प से न हटा, तब मृत्यु उस को आत्मज्ञान का अधिकारी समझ कर उपदेश करता है कि —हे नचिकेता! इस संसार में मनुष्यों के लिये दो मार्ग हैं । १ श्रेय, २ प्रेय। इन्हीं को प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग भी कहते हैं। श्रेय मार्ग—जिस में चलने से मनुष्य का कल्याण होता है, प्रेय मार्ग से—जिस में फंस कर मनुष्य लोलुप और अधीर हो जाता है, अत्यन्त विलक्षण है । इन में से प्रेय को ग्रहण करने वाला श्रेय से वञ्चित रह जाता है ॥१॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः । श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयोमन्दोयोगक्षेमाद्वृणीते॥२॥(३१)

सरलार्थः-(श्रेयः) अरोचक परन्तु कल्याण का मार्ग (च) और (प्रेयः) रोचक परन्तु अकल्याण का मार्ग यह दोनों (मनुष्यम्) मनुष्य को (एतः) प्राप्त होते हैं (धीरः) बुद्धिमान् (तौ) उन दोनों को (सम्परीत्य) सम्यक् प्राप्त होकर (विविनक्ति) विवेचन करता है (धीरः हि) विद्वान् ही (प्रेयसः) प्रवृत्ति मार्ग से (श्रेयः) निवृत्ति मार्गको (अभिवृणीते) सब ओर से ग्रहण करता है (मन्दः)

मूर्ख (योगक्षेमात्) धनादि के उपार्जन और रक्षण से (प्रेयः) प्रवृत्ति मार्ग को ही (वृणीते) स्वीकार करता है ॥२॥

भावार्थः—यद्यपि श्रेय मार्ग कष्टसाध्य होने से आदि में अरोचक और नीरस सा प्रतीत होता है, तद्विरुद्ध प्रेय सुख-साध्य होने से प्रथम रोचक और सरस प्रतीत होता है, तथापि बुद्धिमान् पुरुष "यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्" जो पहले विष के समान प्रतीत होता है, परिणाम में वही अमृत के तुल्य हो जाता है। इस के तत्त्व को जानता हुआ परमार्थ के आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु मन्द-बुद्धि जन पहले ही सुखाभास में लिप्त होकर सदा के लिये वास्तविक सुख से हाथ धो बैठता है ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्याय-न्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः । नैताᳬसृङ्कां वित्तमयी-मवाप्तो यस्यांमज्जन्ति बहवोमनुष्याः॥३॥(३२)

सरलार्थः-(नचिकेतः !) हे नचिकेता ! (सः त्वम्) सो तैने (प्रियान्) पुत्र पौत्रादि (प्रियरूपान्) सुन्दरी कामिनी आदि (कामान्) भोगों को (अभिध्यायन्) उन की असारता को विचार कर (अत्यस्राक्षीः) छोड़ दिया (एताम्) इस भोगैश्वर्यरूप (सृङ्काम्) शृङ्खला में (न अवाप्तः) नहीं फंसा (यस्याम्) जिस में (बहवः) बहुत (मनुष्याः) मनुष्य (मज्जन्ति) फंस जाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः-मृत्यु कहता है कि-हे नचिकेता ! तैने सांसारिक सुख भोगों को अनित्य और असार समझ कर त्याग दिया। अर्थात् प्रेय मार्ग का, जिस में सांसारिक प्रायः मनुष्य फंसे रहते हैं, अनुसरण नहीं किया। इस लिये तू आत्मज्ञान का अधिकारी है ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येतिज्ञाता। विद्याऽभीप्सिनंनचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्त ॥४॥ (३३)

सरलार्थः-(एते) उक्त दोनों श्रेय और प्रेय मार्ग (विपरीते) परस्पर विरुद्ध (विषूची) वैधर्म्यसूचक (दूरम्) भिन्न २ हैं [विद्वानों ने उक्त दोनों मार्ग] (अविद्या या च विद्या इति) अविद्या और विद्या के नाम से (ज्ञाता) जाने हैं। मैं (नचिकेतसम्) तुझ नचिकेता को (विद्याभीप्सिनम्) विद्या का चाहने वाला अर्थात् श्रेयःपथगामी (मन्ये) मानता हूं इस लिये कि (त्वा) तुझ को (बहवः कामाः) बहुत सी कामनायें (न लोलुपन्त) प्रलोभित नहीं कर सकीं ॥ ४ ॥

भावार्थः-मृत्यु कहता है कि जैसे दिन रात, सुख दुःख इत्यादि परस्परविरुद्ध होने से महा अन्तर रखते हैं। इसी प्रकार उक्त श्रेय और प्रेय मार्ग भी परस्पर प्रतिकूल हैं। विद्वान् लोग इन्हीं का विद्या और अविद्या के नाम से निर्देश करते हैं। तुझ को बहुत सी कामनायें (जो अविद्या से उत्पन्न होती हैं) प्रेय मार्ग में न लेजासकीं,

इस लिये मैं तुझे विद्यानुरागी अर्थात् श्रेय-पथानुगामी समझता हूं ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥५॥(३४)

सरलार्थः–(अविद्यायाम् अन्तरे) अविद्या के बीच में (वर्त्तमानाः) पड़े हुवे (स्वयं) अपने को (धीराः) धीर और (पण्डितंमन्यमानाः) पण्डित मानते हुवे (दन्द्रम्यमाणाः) कुटिलपथगामी अथवा इधर उधर घूमते हुवे (मूढाः) विक्षिप्तचित्त (अन्धेन एव नीयमानाः यथा अन्धाः) जैसे अन्धे से लेजाये गये अन्धे (परियन्ति) घूमते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः–प्रेयमार्ग में अनुधावन करने वाले कामुक पुरुष यद्यपि चारों ओर से अविद्या में फंसे हुवे रहते हैं तथापि अपने को धीर और पण्डित मानते हुवे कुटिल पथ में प्रवेश करते हैं और मोह के चक्र में पड़कर इधर उधर घूमते हैं। ऐसों के अनुयायियों की वही दशा होती है, जो अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धों की ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इतिमानी पुनःपुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥ (३५)

सरलार्थः-(वित्तमोहेन) धन के मोह से (मूढम्) मुग्ध (प्रमाद्यन्तम्) प्रमत्त (बालम्) विवेकरहित पुरुष को (साम्परायः) परलोक वा परमार्थसम्बन्धी विचार वा अन्वेषण (न प्रतिभाति) नहीं भाता । (अयम् लोकः) यही लोक है (परः नास्ति) परलोक वा परमार्थ नहीं है (इति) ऐसा (मानी) मानने वाला (पुनः पुनः) वारंवार (मे) मुझ मृत्यु के (वशम्) वश में (आपद्यते) प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः-मृत्यु नचिकेता से कहता है कि-जो पुरुष धनादि पदार्थों के मोह से उन्मत्त और विवेकरहित हो रहे हैं, उन को परमार्थ की बातें नहीं सुहातीं । वे इस प्रत्यक्ष संसार को ही अनन्य सुख का साधन मानकर परमार्थ को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं, ऐसे लोग वारंवार मेरे वशमें पड़ कर मरण के दुःखों को भोगते हैं ॥ ६ ॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्योऽस्यवक्ताकुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥ (३६)

सरलार्थः-(यः) जो परमात्मा (बहुभिः) बहुतों को (श्रवणाय अपि) सुनने के लिये भी (न लभ्यः) नहीं मिलता (शृण्वन्तः अपि) सुनते हुवे भी (बहवः) अनेक जन (यं) जिस को (न विद्युः) नहीं जानते (अस्य) इस परमात्मा का (वक्ता) प्रवचन करने वाला (आश्चर्यः) कोई विरला ही होता है, (अस्य) इस का

(लब्धा) पाने वाला (कुशलः) कोई बड़ा विवेकशील ही होता है । (कुशलानुशिष्टः) विवेकी पुरुष से उपदेश पाया हुवा (ज्ञाता) जानने वाला (आश्चर्यः) कोई ही होता है ॥ ७ ॥

भावार्थः-आत्मज्ञान की दुरूहता कहते हैं । जो परमात्मा बहुत से सांसारिक कामों में आसक्त पुरुषों को सुनने के लिये भी नहीं मिलता और बहुत से अनधिकारी सुनते हुवे भी जिस को नहीं जान सकते अतएव उसका प्रवचन करने वाला कोई विरला ही होता है । श्रोताओं में भी उस का यथार्थरूप से समझने वाला कोई विवेकी ही पुरुष (जो संस्कृतात्मा और परमार्थ के साधनों से सम्पन्न है) मिल सकता है ॥ ७ ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः । अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥ (३७)

सरलार्थः-(अवरेण) साधारण (नरेण) मनुष्य से (प्रोक्तः) उपदेश किया हुवा (बहुधा) अनेक प्रकार से (चिन्त्यमानः) विचार किया हुवा भी (एषः) यह आत्मा (सुविज्ञेयः, न) सुगमता से जानने के योग्य नहीं है (अनन्यप्रोक्ते) जो अनन्यभाव से परमात्मा की उपासना करते हैं ऐसे तन्मय और तत्परायण आचार्यों के उपदेश किये हुवे (अत्र) इस आत्मा में (गतिः) विकल्प वा

सन्देह (नास्ति) नहीं है । वह ब्रह्म (अणुप्रमाणात्) सूक्ष्म से भी (अणीयान्) अतिसूक्ष्म है (हि) इसी लिये (अतर्क्यम्) तर्क करने योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

भावार्थः—इस श्लोक से भी उक्तार्थ की ही पुष्टि की जाती है । जिन की बुद्धि प्राकृत पदार्थों में रमण करती है ऐसे साधारण पुरुषों के बारंबार उपदेश करने से भी वह ब्रह्म सम्यक् नहीं जाना जाता किन्तु जो अनन्यभाव से तन्मय और तत्परायण होकर उस की उपासना में रत हैं ऐसे आचार्यों के उपदेश से ही असन्दिग्ध रीति पर वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और अप्रतर्क्य ब्रह्म जाना जाता है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ! । यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥ (३८)

सरलार्थः-हे (प्रेष्ठ !) प्रियतम ! (एषा) यह आगम प्रसूता (मतिः) बुद्धि (तर्केण) स्वबुद्धिकल्पित हेतुओं से (न, आपनेया) नहीं बिगाड़नी चाहिये (अन्येन एव) शास्त्रवित् आचार्य से ही (प्रोक्ता) उपदेश की हुई उक्त बुद्धि (सुज्ञानाय) सम्यक्ज्ञान के लिये होती है (सत्यधृतिः) तू निश्चल धैर्य वाला (असि) है (त्वम्) तू (याम्) जिस बुद्धि को (आपः) प्राप्त हुवा है (बत) [अनुकम्पा सूचक अव्यय है] हे (नचिकेतः !) नचिकेता ! (त्वादृक्) तेरे समान ही (नः) हम से (प्रष्टा) पूछने वाला (भूयात्) हो ॥ ९ ॥

भावार्थः-यद्यपि धर्मादि विषयों के निर्णय में मन्वादि महर्षियों ने तर्क का उपयोग माना है, यथा "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" अर्थात् जो तर्क से अनुसन्ध न करता है वह धर्म को जान सकता है इतर नहीं इत्यादि। तथापि आत्मज्ञान के विषय में (जो निश्चयात्मिका बुद्धि की अपेक्षा रखता है) तर्क से कुछ काम नहीं चलता क्योंकि जहां सन्देह होता है वहीं तर्क की प्रवृत्ति होती है। आत्मतत्त्व के जानने पर सारे सन्देह और विकल्प शान्त हो जाते हैं फिर भला वहां तर्क का प्रवेश क्योंकर हो सकता है? इस बात को लक्ष्य में रख कर मृत्यु नचिकेता से कहता है कि हे प्रियतम! यह शास्त्रवित् आचार्यों के उपदेश से उत्पन्न हुई बुद्धि जिस को तू प्राप्त हुआ है केवल तर्क के आधार पर न लगानी चाहिये किन्तु आगम पर श्रद्धा रखते हुवे श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये ९

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत्। ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मिनित्यम्॥१०॥ ३९

सरलार्थः-(अहम्) मैं (शेवधिः) कर्मफलरूप स्वर्गादि (अनित्यम्) अनित्य है (इति) ऐसा (जानामि) जानता हूं (हि) निस्सन्देह (अध्रुवैः) अनित्य और अस्थिर साधनों से (तत्) वह (ध्रुवम्) नित्य और अचल ब्रह्म (न, प्राप्यते) नहीं पाया जाता (ततः) इसी लिये (मया) मैंने (नाचिकेतः) जिस का अग्नी

तुम्हारे प्रति विधान किया है वह (अग्निः) अग्नि (चितः) कर्मफलवासना से रहित होकर चयन किया है । अतः (अनित्यैः द्रव्यैः) अनित्य पदार्थों से (नित्यम्) नित्य ब्रह्म को (प्राप्तवान्. अस्मि) परम्परा से प्राप्त हुवा हूं ॥ १० ॥

भावार्थः-मृत्यु नचिकेता से कहता है कि यद्यपि यह मैं जानता हूं कि सकाम कर्म से स्वर्गादि अनित्य पदार्थों की प्राप्ति होती है परन्तु इन अनित्य साधनों से वह नित्य ब्रह्म अप्राप्य है, इसी लिये मैंने कर्मफल की कामना को त्यागकर यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान किया है जो साक्षात् नहीं तौ परम्परा से मेरे मोक्ष का कारण हुवे हैं । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जो कर्म फल की वासना से किये जाते हैं वही मनुष्य को बन्धन में डालते हैं, केवल निष्काम कर्म करने से ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बनता है ॥ १० ॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् । स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११॥ (४०)

पदार्थः—हे (नचिकेतः) नचिकेता ! तैंने (कामस्य) भोगादि कामनाओं की (आप्तिम्) प्राप्ति को, (जगतः) संसार की (प्रतिष्ठाम्) स्त्रीसंभोगादि रूप से स्थिति को, (क्रतोः) यज्ञादि के (अनन्त्यम्) अखण्ड राज्यादि फल को, (अभयस्य) सांसारिक निर्भयता की (पारम् . पराकाष्ठा को, (उरुगायम्)बहुधा मनुष्य जिस का गान करते हैं ऐसे (स्तोम

महत्) स्तुतिसमूह और (प्रतिष्ठाम्) प्रशंसा को (दृष्ट्वा) ज्ञान चक्षु से इन सब को असार देख कर (धृत्या) धैर्य से (अत्यस्राक्षीः) त्याग दिया, अतएव (धीरः) तू बड़ा बुद्धिमान् है ॥ ११ ॥

भावार्थः-मृत्यु कहता है कि हे नचिकेता ! तुझ को संसार की बड़ी से बड़ी कामनायें भी न लुभा सकीं। अत एव तू धीर है और ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥ (४१)

सरलार्थः-(धीरः) विद्वान् (अध्यात्मयोगाधिगमेन) वाह्य विषयों से चित्तवृत्ति को हटा कर आत्मा में लगाने से (तम्) उस (दुर्दर्शम्) दुःख से जानने योग्य (गूढम्) अतीन्द्रिय होने से गुप्त (अनुप्रविष्टम्) अन्तःकरण और जीवात्मा में भी व्याप्त (गुहाहितम्) बुद्धि में स्थित (गह्वरेष्ठम्) दुर्गम होने से विषमस्थ (पुराणम्) सनातन (देवम्) प्रकाशमय आत्मा को (मत्वा) मान कर (हर्षशोकौ) सुख दुःख को (जहाति) त्याग देता है ॥ १२ ॥

भावार्थः-मृत्यु नचिकेता को आत्मतत्त्व का उपदेश करता है कि वह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक होने से दुर्दर्श है, वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं । यहां तक कि अप्राप्त देश में पहुंचने वाला मन भी वहां तक

जाने में थक जाता है। वह केवल धारणावती बुद्धि में स्थित होने से (जो बिना अध्यात्म योग के अप्राप्य है) विषमरूप कहलाता है। उस का योगी जन अध्यात्मयोग से (जो बाह्य विषयों से चित्त को हटा कर अन्तरात्मा में लीन करने से सिद्ध होता है) प्राप्त होकर हर्ष शोक को त्याग देते हैं ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यम-णुमेतमाप्य।स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसम्मन्ये ॥१३॥ (४२)

सरलार्थः-(मर्त्यः) मनुष्य (एतत्) इस वक्ष्यमाण (धर्म्यम्) धर्म के अधिकरण आत्मा को (श्रुत्वा) सुनकर तथा (सम्परिगृह्य) अच्छे प्रकार ग्रहण करके, एवं (प्रवृह्य) बारम्बार अभ्यास करके (एतम्) इस (अणुम्) सूक्ष्म ब्रह्म को (आप्य) प्राप्त होकर (सः) वह (मोदनीयम्) आनन्द रूप को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (मोदते) आनन्दित होता है। ऐसे ब्रह्म को (नचिकेतसम्) तुझ नचिकेता के प्रति (विवृतम्, सद्म) खुला है द्वार जिस का ऐसे स्थान के सदृश (मन्ये) मानता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थः- मृत्यु कहता है-हे नचिकेता! इस ब्रह्म को श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा जो मनुष्य ग्रहण करते हैं वह आनन्दमयपद को प्राप्त होकर सब बन्धनों से विनिर्मुक्त हो जाते हैं। तेरे लिये भी इस गुप्त मन्दिर में (जिस का पता लगना बड़ा कठिन है) प्रवेश करने के लिये द्वार खुला हुवा है ॥ १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मादन्यत्रास्मात् कृताऽकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥ (४३)

पदार्थः-(धर्मात्) कर्त्तव्यरूप आचरण से (अन्यत्र) पृथक् (अधर्मात्) अकर्त्तव्य से (अन्यत्र) अलग (अस्मात्) इस (कृताऽकृतात्) कार्य और कारण से (अन्यत्र) भिन्न (भूतात्) भूत काल से (भव्यात्) भविष्यत् से (च) वर्त्तमान से भी (अन्यत्र) अतिरिक्त (यत्) जिस को (पश्यसि) देखते हो (तत्) उस को (वद) कहो ॥ १४ ॥

भावार्थः-नचिकेता प्रश्न करता है-हे मृत्यु ! जो पदार्थ धर्म और अधर्म और उन के शुभाऽशुभ फल से रहित एवं कार्य, कारण और उन के उत्पत्ति और विनाश धर्म से भिन्न तथा भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनों कालों के सम्बन्ध से पृथक् है उस का मेरे प्रति उपदेश कर ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥ (४४)

पदार्थः-(सर्वे, वेदाः) चारों वेद (यत्, पदम्) जिस पद का (आमनन्ति) बारम्बार वर्णन करते हैं (सर्वाणि, तपांसि, च) सारे तप और नियमादि भी (यत्) जिस पद का (वदन्ति) कथन करते हैं (यत्) जिस पद की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुये (ब्रह्म-

अर्यम्) ब्रह्मचर्याश्रम का (चरन्ति) आचरण करते हैं (तत्, पदम्) उस पद को (ते) तेरे लिये (सङ्ग्रहेण) संक्षेप से (ओम् इति, एतत्) " ओम् " है यह (ब्रवीमि) कहता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थः-अब मृत्यु नचिकेता को आत्मतत्त्व का उपदेश करता है कि हे नचिकेता ! चारों वेदों का मुख्य तात्पर्य जिस पद की प्राप्ति करने का है अर्थात् उक्त वेद कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से जिस पद का चिन्तन करते हैं और ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा अन्य धर्मानुष्ठान भी जिस पद की प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं, उस पद का वाचक अनन्यरूप से केवल " ओम् " यह शब्द है, जिस का मैं तेरे प्रति उपदेश करता हूं ॥ १५ ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा योयदिच्छति तस्य तत् ।१६।(४५)

सरलार्थः-(एतत्, हि, एव) यह ओ३म् ही (अक्षरम्) नाश न होने वाला (ब्रह्म) ब्रह्म है (एतत, एव) यह ही (परम्) सब से उत्तम (अक्षरम्) अक्षर है (एतत्, हि, एव) इस ही (अक्षरम्) अक्षर को (ज्ञात्वा) जानकर (यः) जो (यत्) जिस अर्थ को (इच्छति) चाहता है (तस्य, तत्) उस को वह अर्थ अवश्य ही प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भावार्थः-वाच्य और वाचक की अभिन्नता कहते हैं । वाचक ही से वाच्य का निर्देश किया जाता है । संसार

में कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिस का कोई वाचक न हो । परमात्मा के वाचक यद्यपि अग्नि आदि और भी अनेक शब्द हैं तथापि वे अन्य पदार्थों के भी वाचक हैं । केवल यही एक शब्द है जो अनन्यभाव से उस की सत्ता का बोध कराता है और किसी अन्य पदार्थ का वाचक नहीं । इसी लिये वाच्य ब्रह्म से इस की अभिन्नता प्रतिपादन की गई है ॥ १६ ॥

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥ (४६)

सरलार्थः–(एतत्) यह (आलम्बनम्) साधन (श्रेष्ठम्) प्रशस्त है (एतत्) यह (आलम्बनम्) आश्रय (परम्) सर्वोपरि है (एतत्) इस (आलम्बनम्) आलम्बन को (ज्ञात्वा) जान कर (ब्रह्मलोके) ब्रह्मानन्द में (महीयते) आनन्द करता है ॥ १७ ॥

भावार्थः-फिर उसी के माहात्म्य को कहते हैं । ब्रह्मज्ञान के साधनों में " ओ३म् " की उपासना करना सर्वोत्तम है अर्थात् इसी परमोत्तम साधन से वाच्य ब्रह्म की उपासना करना ब्रह्मानन्द का अनुभव कराता है ॥१७॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥ (४७)

सरलार्थः–(विपश्चित) सर्वज्ञ (अयम्) यह आत्मा

(न, जायते, वा, म्रियते) न उत्पन्न होता और न मरता है (कुतश्चित्) किसी उपादान से (न, बभूव) उत्पन्न नहीं हुआ (कश्चित्) कोई इस से भी उत्पन्न नहीं हुआ (अयम्) यह आत्मा (अजः) जन्म नहीं लेता (नित्यः) विकाररहित (शाश्वतः) अनादि (पुराणः) सनातन है (शरीरे) देह के (हन्यमाने) नाश होने पर (न, हन्यते) नहीं नष्ट होता ॥ १८ ॥

भावार्थः-अब उस " ओ३म् " के वाच्य का निरूपण करते हैं- वह आत्मा जन्म मरण से रहित है। उस का कोई उपादान नहीं (जिस से वह उत्पन्न हुआ हो) और न वह किसी का उपादान है (जिस से कोई उत्पन्न हो) वह अजन्मा, निर्विकार, सनातन और अनादि होने से सदा एकरस रहता है। जिस प्रकार घट मठादि के टूटने फूटने पर आकाश में कोई विकार नहीं आता इसी प्रकार शरीरों के विनाश होने पर आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते १९

पदार्थः-(चेत्) यदि (हन्तुम्) मारने को (हन्ता) मारने वाला (मन्यते) मानता है तथा (चेत) यदि (हतः) मारा हुआ (हतम्) आत्मा को मरा हुआ (मन्यते) जानता है (तौ , उभौ) वे दोनों (न, विजानीतः) कुछ नहीं जानते (अयम्)

यह आत्मा (न, हन्ति) किसी को नहीं मारता (न, हन्यते) और न किसी से मारा जाता है ॥ १९ ॥

भावार्थः-मारने वाला यदि यह समझता है कि मैं आत्मा को मार सकता हूं और मारा हुवा यह जानता है कि आत्मा मारा गया। यह दोनों कुछ नहीं जानते क्योंकि आत्मा न किसी को मारता है और न किसी से मारा जाता है ॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितोगुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुःप्रसादान्महिमानमात्मनः २०(४९)

सरलार्थः-(आत्मा) ब्रह्म (अणोः) सूक्ष्म जीवात्मा से भी (अणीयान्) अत्यन्त सूक्ष्म है (महतः) बड़े आकाशादि से भी (महीयान्) बड़ा है, वह (अस्य, जन्तोः) इस प्राणी की (गुहायाम्) बुद्धि में (निहितः) स्थित है (तम्) उस (आत्मनः) आत्मा की (महिमानम्) महिमा को (धातुःप्रसादात्) बुद्धि के विमल होने से (अक्रतुः) कामनारहित (वीतशोकः) विगतशोक प्राणी (पश्यति) देखता है ॥ २० ॥

भावार्थः-जो आत्मा व्यापक होने से सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और अनन्त होने से बड़े से भी बड़ा है वह मनुष्य की धारणावती बुद्धि में स्थित है। जिन की बुद्धि बाह्य विषयों से उपरत होकर विमल होगई है ऐसे काम,

शोक से विवर्जित विरक्त जन ही उस की महिमा को सर्वत्र देखते हैं ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्योज्ञातुमर्हति॥२१॥५०

अन्वयार्थः-(आसीनः) बैठा हुवा (दूरम्) दूर (व्रजति) पहुंचता है (शयानः) सोता हुवा (सर्वतः) सब ओर (याति) जाता है (तं) उस (मदामदम्, देवम्) आनन्दरूप देव को (मदन्यः) मुझ से सिवाय (कः) कौन (ज्ञातुं) जानने को (अर्हति) योग्य है ॥ २१ ॥

भावार्थः-"आसीन" शब्द से अचल और "शयान" से व्यापक लिया जाता है। हमारे पाठक आश्चर्य करेंगे कि अचल का दूर पहुंचना और व्यापक का सब ओर जाना कैसे होसक्ता है? इस का उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म स्वरूप से अचल और व्यापक है तथापि व्याप्य पदार्थों में गत्यादि क्रियाओं के होने से ब्रह्म में भी उन का अध्यास किया जाता है क्योंकि विना ब्रह्म की सत्ता के किसी पदार्थ में भी गति और चेष्टा आदि क्रियायें नहीं रह सकतीं एतदर्थ व्याप्य के धर्मों का व्यापक में आरोप करके वर्णन किया जाता है और ऐसा किये बिना उस अचल और अखण्ड ब्रह्म को हम समझ नहीं सकते। मृत्यु नचिकेता की श्रद्धा बढ़ाने के लिये कहता है कि मेरे सिवाय उस सांसारिक विनश्वर सुख से रहित और पारमार्थिक नित्यानन्द से पूरित ब्रह्म को और कौन जान सकता है? ॥ २१ ॥

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति२२

सरलार्थः-(शरीरेषु) विनाश धर्म वाले पदार्थों में (अशरीरम्) विनाशरहित (अनवस्थेषु) चलायमान पदार्थों में (अवस्थितम्) अचल (महान्तम्) अनन्त (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (मत्वा) जान कर (धीरः) धीर पुरुष (न शोचति) शोच नहीं करता ॥२२॥

भावार्थः-उक्तार्थ को इस श्लोक में स्पष्ट करते हैं। यद्यपि परमात्मा अनित्य, चलायमान और विनाशशील पदार्थों में व्यापक होने से उन में अवस्थित है तथापि स्वयम् नित्य, अचल और अविनाशी होने से उनके धर्म में लिप्त नहीं होता। उस मल में और मल से अलग आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर धीर पुरुष शोक से मुक्त होता है ॥ २२ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥२३॥ (५२)

सरलार्थः-(अयम्) यह (आत्मा) ब्रह्म (प्रवचनेन) उपदेश से (न, लभ्यः) प्राप्त नहीं होता, (मेधया) बुद्धि से (न) नहीं मिलता (बहुना, श्रुतेन) बहुत सुनने से भी (न) नहीं जाना जाता (एषः) जीवात्मा (यम्, एव) जिस आत्मा को ही (वृणुते) स्वीकार

करता है (तेन) उस से (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है (एषः, आत्मा) यह आत्मा (तस्य) उस के लिये (स्वाम्, तनूम्) अपने यथार्थस्वरूप को (वृणुते) प्रकाश करता है ॥ २३ ॥

भावार्थः- श्रवण, मनन और प्रवचन आदि यद्यपि परम्परा से तो ब्रह्मप्राप्ति के साधन माने ही जाते हैं। परन्तु साक्षात् इस से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती जब साधक वा जिज्ञासु अनन्य भाव से आत्मा की ओर झुकता है अर्थात् तन्मय और तत्प्रवण हो जाता है तब इस को आत्मतत्त्व का बोध होता है और वह आत्मा इस के लिये अपने यथार्थ पारमार्थिक स्वरूप को प्रकाशित कर देता है ॥ २३ ॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥२४

सरलार्थः-(दुश्चरितात्) अपकर्मों से (न, अविरतः) जो उपरत नहीं हुआ वह (एनं) इस आत्मा को (न) नहीं प्राप्त होता (अशान्तः) चञ्चलचित्त भी (न) नहीं पाता (असमाहितः) संशयात्मा भी (न) नहीं पाता (वा) और (अशान्तमानसः, अपि) जिस ने बाह्य इन्द्रियों को तो विषयों में जाने से रोक लिया है परन्तु मन जिस का तृष्णा में फंसा हुआ है वह भी (न) नहीं प्राप्त होता, केवल (प्रज्ञानेन) यथार्थ ज्ञान से (आप्नुयात्) ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ (५३)

भावार्थः—जो मनुष्य हिंसा, स्तेय, अनृत आदि प्रतिषिद्ध कर्मों से उपरत नहीं हुवा वह आत्मज्ञान का का अधिकारी नहीं है। उक्त अविहित कर्मों से पृथक् होकर भी जिस का चित्त शान्त नहीं हुवा है अर्थात् संशय और विकल्प की तरङ्गों में घूम रहा है वह भी उस का अधिकारी नहीं। लब्धशान्ति होकर अर्थात् बाह्येन्द्रियों को विषयों से रोक कर भी जिस की वासना रूप तृष्णा नहीं बुझी वह भी आत्मतत्त्व को नहीं जान सकता, किन्तु जो सारे अपकर्मों से उपरत होकर शान्तचित्त और समस्त विषयवासनाओं से वितृष्ण होकर आत्मपरायण होगया है वह केवल यथार्थज्ञान से ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है ॥ २४ ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥२५॥

सरलार्थः (यस्य) जिस ब्रह्म के (ब्रह्म) ब्राह्मण (च) और (क्षत्रम् च) क्षत्रिय भी (उभे) दोनों (ओदनम्) भक्ष्य (भवतः) होते हैं। (यस्य) जिसका (उपसेचनम्) उपसेचन (मृत्युः) मौत है (सः) वह परमात्मा (यत्र) जिस दशा में वा जैसा है (इत्था) इस प्रकार (कः, वेद) कौन जान सकता है? ॥ २५ ॥ (४५)

भावार्थः—ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म यह दोनों ही जगत् की स्थिति के मुख्य कारण हैं "मुख्यगौणयोर्मुख्ये सम्प्रत्ययः" इस के अनुसार वैश्य और शूद्र के धर्मों का भी इन्हीं में समावेश हो जाता है, अर्थात् प्रलय में

चारों वर्ण जिस का भक्ष्य हो जाते हैं। और मृत्यु भी जो इन सब को भक्ष्य बनाता है, स्वयं जिस का उपसेचन (आज्य) बनजाता है, अर्थात् सृष्टि के अभाव में मृत्यु भी अनावश्यक हो जाने से जिस परमात्मा में लीन हो जाता है, उस अन्नाद ब्रह्म को, वह ऐसा ही है, इस प्रकार कौन जान सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं ॥२५॥

इति द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥

—:✿:—

अथ तृतीया वल्ली प्रारभ्यते ॥

ऋतं पिबन्तौ स्वकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥ (५५)

सरलार्थः-(परमे) सब से उत्तम (परार्द्धे) हृदयाकाश में तथा (गुहां) बुद्धि में (प्रविष्टौ) स्थित (लोके) शरीर में (स्वकृतस्य) अपने किये हुवे कर्मों के (ऋतम्) फल को (पिबन्तौ) भोगते हुवे (छायातपौ) अन्धकार और प्रकाश के तुल्य (ब्रह्मविदः) ब्रह्म के जानने वाले (वदन्ति) कहते हैं (च) और (ये) जो (त्रिणाचिकेताः) तीन वार जिन्हों ने नाचिकेत अग्नि का सेवन किया ऐसे कर्मकाण्डी (पञ्चाग्नयः) पञ्च यज्ञों के करने वाले गृहस्थ भी ऐसा ही कहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः-इस श्लोक में जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वर्णन है। मनुष्य के हृदयाकाश में छाया और आतप के समान जीवात्मा और परमात्मा दोनों निवास करते हैं, एक इन में से अपने कर्मफल का भोक्ता और दूसरा भुगवाने वाला होने से दोनों का कर्मफल के साथ सम्बन्ध है। यद्यपि ब्रह्म स्वयं कर्म या उस के फल में लिप्त नहीं होता, तथापि जीव को कर्म का फल भुगाता है। इस अपेक्षा को मान कर दोनों के लिये "पिबन्तौ" क्रिया रक्खी गई है। इस प्रकार शरीरों में दोनों आत्माओं की सत्ता केवल कर्मकाण्डी ही नहीं, किन्तु ज्ञानकाण्डी भी मानते हैं ॥ १ ॥

यःसेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्। अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतᳩशकेमहि ॥२॥ (५६)

सरलार्थः-(यः) जो (ईजानानाम्) यज्ञशीलों का (सेतुः) पुल के समान है उस (नाचिकेतम्) नाचिकेत अग्नि को (शकेमहि) हम जान सकते हैं और (यत्) जो (पारम्) भवसिन्धु के पार (तितीर्षताम्) तरने की इच्छा करने वालों का (अभयम्) भयरहित साधन है उस (परम्) सब से उत्कृष्ट (अक्षरम्) नाशरहित (ब्रह्म) परमात्मा को भी (शकेमहि) जान सकते हैं ॥२॥

भावार्थः-इस कर्मनाम्रा नदी से जिस में सांसारिक लोग मज्जित होते हैं, तरने के दो मार्ग हैं। पहला यज्ञादि कर्मकाण्ड है, जो पुल के समान हमें इस नदी के पार

लेजाकर विज्ञान के तट पर बिठा देता है । दूसरा ज्ञानकाण्ड है, जो हमें उस भवसागर के पार पहुंचाता है (कि जिस में यह कर्मनासा नदी सहस्रधारा होकर मिलती है) जो लोग कर्मकाण्ड की उपेक्षा वा निन्दा करके ज्ञानकाण्ड के अधिकारी बनना चाहते हैं वह आंख खोल कर ज़रा इस श्लोक के आशय पर ध्यान देवें ॥ २ ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ४

सरलार्थः-(आत्मानम्) आत्मा को (रथिनम्) रथी (विद्धि) जान (तु) और (शरीरम्, एव) शरीर को ही (रथम्) रथ जान (तु) और (बुद्धिम्) बुद्धि को (सारथिम्) सारथि (विद्धि) जान (च) और (मनः, एव) मन को ही (प्रग्रहम्) रश्मि जान ॥३॥ (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (हयान्) घोड़े (आहुः) कहते हैं (तेषु) उन इन्द्रियों में (विषयान्) शब्द स्पर्शादि को (गोचरान्) मार्ग कहते हैं (मनीषिणः) पण्डित लोग (आत्मेन्द्रिय-मनोयुक्तम्) शरीर इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को (भोक्ता) भोगने वाला (इति, आहुः) ऐसा कहते हैं ॥४॥

भावार्थः—इन श्लोकों में रथ के अलङ्कार से शरीर का वर्णन किया गया है। जैसे वह रथी जिस का रथ दृढ़, सारथि चतुर, लगाम मज़बूत और खिंची हुई, घोड़े सोखे हुये और सड़क साफ़ और संवारी हुई है, निश्शङ्क अपने निर्दिष्ट स्थान में पहुंच जाता है। ऐसे ही वह आत्मा जिस का शरीर आरोग्य, बुद्धि शुद्ध, मन अक्षुब्ध, इन्द्रिय गण वश्य और उन के शब्दादि अर्थ अलुप्त हैं, निर्भयता के साथ अपने प्राप्तव्य पद को पहुंचता है॥ ४ (५७-५८)

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥५॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इवसारथेः॥६॥

सरलार्थः—(यः, तु) जो (अविज्ञानवान्) विषयों में लम्पट मनुष्य (अयुक्तेन, मनसा) अनवस्थित मन से (सदा) सर्वदा—युक्त (भवति) होता है (तस्य) उस के (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (सारथेः) सारथि के (दुष्टाश्वाः इव) दुष्ट घोड़ों के समान (अवश्यानि) वश में नहीं होते॥ ५॥ (यः, तु) और जो (विज्ञानवान्) विवेक सम्पन्न (युक्तेन, मनसा) समाहित मन से (सदा) सर्वदा-युक्त (भवति) होता है (तस्य) उस के (इन्द्रियाणि) चतुरादि (सारथेः) सारथि के (सदश्वाः इव) शिक्षित घोड़ों के समान (वश्यानि) वश में होते हैं॥ ६॥

भावार्थः-जिस मनुष्य की चित्तवृत्ति विषयों से नहीं हटी हैं और जिस का मन अभी अनवस्थित दशा में है उस के इन्द्रिय दुष्ट घोड़ों के समान उसे विषयों की खाई में डाल देते हैं ॥ ५ ॥ और जो मनुष्य विवेक के शस्त्र से विषय के जाल को छिन्न भिन्न कर देता है। एवं जिस का मन सब ओर से हट कर परमार्थ में युक्त होगया है, उस के इन्द्रिय शिक्षित घोड़ों के समान उसे अपने निर्दिष्ट स्थान पर लेजाते हैं ॥ ६ ॥ (५९-६०)

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ७
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥८॥

सरलार्थः-(यः, तु) जो (अविज्ञानवान्) विवेक रहित (अमनस्कः) मन के पीछे चलने वाला (सदा) सर्वदा (अशुचिः) अपवित्र (भवति) होता है (सः) वह (तत्, पदम्) उस शान्त पद को (न, आप्नोति) नहीं प्राप्त होता (च) किन्तु (संसारम्) जन्म मरण के प्रवाह को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥७॥ (यः, तु) और जो (विज्ञानवान्) विवेकसम्पन्न (समनस्कः) मन को जीतने वाला (सदा) निरन्तर (शुचिः) शुद्ध भावयुक्त (भवति) होता है (सः, तु) वह तो (तत्,

पदम्) उस आनन्द पद को (आप्नोति) प्राप्त होता है (यस्मात्) जिस से (भूयः) फिर (न, जायते) उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥ (६१-६२)

भावार्थः-जिस मनुष्य का मन वश में नहीं है और संस्कार तथा संसर्ग के दोषों से जिस के भाव भी मलिन हो रहे हैं, ऐसा विवेकशून्य पुरुष उस परमपद को नहीं पासकता किन्तु इस संसार में ही जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है ॥ ७ ॥ इस के विपरीत जो मनुष्य इस चञ्चल मन को वश में करलेता है और जिस के संस्कार तथा भाव भी शुद्ध होगये हैं, ऐसा विवेकी पुरुष उस आनन्द पद को प्राप्त होता है जिस से फिर जन्म मरण के चक्र में नहीं पड़ता ॥ ८ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः । सो-ऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥९॥

सरलार्थः-(यः, तु) जो (नरः) मनुष्य (विज्ञान सारथिः) विवेक सारथि वाला एवम् (मनः प्रग्रह-वान्) मन की लगाम को रोकने वाला है (सः) वह (अध्वनः) मार्ग के (पारम्) पार (विष्णोः) व्यापक ब्रह्म के (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (तत्, पदम्) उस पद को (आप्नोति) प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

भावार्थः–जिस मनुष्य ने विवेक को अपना सारथि बना कर मन की लगाम को मज़बूत पकड़ा हुवा है, वह उस विष्णु के परम पद को (जहां उस की यात्रा समाप्त हो जाती है) प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ (६३)

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १० ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरु-
षान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

सरलार्थः–(इन्द्रियेभ्यः) भौतिक इन्द्रियों से (हि) निश्चय (अर्थाः) शब्दादि विषय (पराः) सूक्ष्म हैं (च) और (अर्थेभ्यः) विषयों से (मनः) मन (परम्) सूक्ष्म है (च) तथा (मनसः) मन से (बुद्धिः) बुद्धि (परा) सूक्ष्म है (बुद्धेः) बुद्धि से (महान्, आत्मा) महत्तत्त्व (परः) सूक्ष्म है ॥१०॥ (महतः) महत्तत्त्व से (अव्यक्तम्) अव्याकृत प्रकृति (परम्) सूक्ष्म है (अव्यक्तात्) अव्यक्त प्रकृति से (पुरुषः) सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म (परः) अत्यन्त सूक्ष्म है (पुरुषात्) पुरुष से (परम्) सूक्ष्म (किञ्चित्, न) कुछ भी नहीं है (सा) वही (काष्ठा) स्थिति की सीमा (सा) वही (परा गतिः) अन्तिम अवधि है ॥ ११ ॥ (६४–६५)

भावार्थः–इन दोनों श्लोकों में परमात्मा का सब से सूक्ष्म होना दिखलाया गया है। चक्षुरादि इन्द्रियों की अपेक्षा

उन के रूपादि विषय कुछ सूक्ष्म हैं। विषयों की अपेक्षा मन कुछ सूक्ष्म है और मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि से उस का कारण महत्तत्व और महत्तत्व से भी उस का कारण प्रकृति (जो अव्यक्त और प्रधानादि नामों से प्रख्यात है) सूक्ष्म है। उस प्रकृति से भी पुरुष (जो समस्त अण्ड-कटाह में व्यापक है) अत्यन्त सूक्ष्म है। पुरुष से परे वा सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं है, वही सारे जगत् की परमगति और अन्तिम सीमा है ॥ ११ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यतेत्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः १२॥

सरलार्थः-(सर्वेषु, भूतेषु) सब पदार्थों में (एषः) यह (गूढात्मा) गुप्त आत्मा (न प्रकाशते) स्थूलदृष्टि से नहीं देखा जाता (तु) किन्तु (अग्र्यया) तीव्र (सूक्ष्मया) सूक्ष्म (बुद्ध्या) बुद्धि से (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्मदर्शियों से (दृश्यते) देखा जाता है ॥ १२ ॥ (६६)

भावार्थः-जिस की वृत्ति बाह्य विषयों में लीन होने से फैली हुई है उस को वह अन्तरात्मा (जो गुप्तरूप से सब पदार्थों में ओत प्रोत हो रहा है) नहीं देखता किन्तु वह तो तत्वदर्शियों से उस सूक्ष्म बुद्धि द्वारा (जो मानसिक वृत्तियों के समाधान से प्राप्त होती है) जाना जाता है ॥ १२ ॥

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आ-

त्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्त-
द्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥ (६७)

सरलार्थः-(प्राज्ञः) धीर पुरुष (मनसि) मन में (वाक्) वाणी को (यच्छेत्) सब ओर से हटा कर लगा देवे (तत्) उस मन को (ज्ञाने, आत्मनि) ज्ञान के उपकरण बुद्धि में (यच्छेत्) ठहरावे (ज्ञानम्) बुद्धि को (महति, आत्मनि) उस के कारण महत्तत्व में (नियच्छेत्) युक्त करे (तत्) उस महत्तत्व को (शान्ते, आत्मनि) प्रशान्त आत्मा में (यच्छेत्) ठहरा देवे ॥१३॥

भावार्थः-जिज्ञासु के लिये अध्यात्मयोग का क्रम बतलाते हैं। पहिले वाणी को (जो बाह्य व्यापारों को उत्पन्न करती है) मन में रोके, फिर मन को (जो भीतर ही भीतर बाह्य व्यापारों का चित्र खींचता रहता है) बुद्धि में ठहरावे। तत्पश्चात् बुद्धि को (जो बाह्य वस्तुओं का बोध कराती और उन में फंसाती है) महत्तत्व (अहङ्कार) में लीन करे और महत्तत्व को (जिस से राग द्वेष आदि दोष उत्पन्न होते हैं) उस आत्मा में (जहां सारे विकार और उपाधि शान्त हो जाते हैं) युक्त कर देवे ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं
पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥ (६८)

सरलार्थः-(उत्तिष्ठत) उठो (जाग्रत) जागो (वरान्) श्रेष्ठ आचार्यों को (प्राप्य) प्राप्त होकर (निबोधत) जानो-(निशिता) तीक्ष्ण (दुरत्यया) अति कठिन (क्षुरस्य, धारा) छुरे की धारा के समान (कवयः) कवि लोग (तत्) उस (पथः) मार्ग को (दुर्गम्) दुःख से प्राप्त होने योग्य (वदन्ति) कहते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थः-हे मनुष्यो ! उस अनामय पद की प्राप्ति के लिये उठो ! जागो ! ! महात्मा आचार्यों के उपदेश से ज्ञान को बढ़ाओ । क्योंकि जैसे सान पर चढ़े हुये छुरे की धार तीक्ष्ण और कठिन होती है ऐसे ही यह श्रेय मार्ग भी बड़ा दुर्गम और कठिन है । इस में कोई विरला ही मनुष्य (जो शम दमादि साधनों से युक्त है) चल सकता है ॥ १४ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्य-मगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५॥ (६९)

सरलार्थः-(यत्) जो ब्रह्म (अशब्दम्) शब्द नहीं जो कान से जाना जावे (अस्पर्शम्) स्पर्श नहीं जो त्वचा से ग्रहण किया जावे (अरूपम्) रूप नहीं जो चक्षु का विषय हो (तथा) वैसे ही (अरसम्) रस नहीं जो रसना का विषय हो (च) और (अगन्धवत्) गन्ध वाला नहीं जो घ्राणगम्य हो । अतएव वह (अव्ययम्) अविनाशी (नित्यम्) सदा एकरस (अनादि) अनुत्पन्न

(अनन्तम्) सीमारहित (महतः परम्) महत्तत्व से भी सूक्ष्म (ध्रुवम्) अचल है (तम्) उस को (निचाय्य) सम्यक् जानकर (मृत्युमुखात्) मौत के मुख से (प्रमुच्यते) छूट जाता है ॥ १५ ॥

भावार्थः—जो ब्रह्म किसी इन्द्रिय का विषय न होने से अत्यन्त सूक्ष्म और अनन्तादिविशेषणयुक्त है उस ही को जानकर मनुष्य मौत के मुंह से छूटता है। वेद भगवान् भी कहते हैं "तमेवविदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" अर्थात् केवल उस ही को जानकर मनुष्य मौत को जीत सकता है और कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते १६॥

सरलार्थः—(नाचिकेतम्) नचिकेता से ग्रहण किये गये (मृत्युप्रोक्तम्) मृत्यु से उपदेश किये गये (सनातनम्) प्राचीन (उपाख्यानम्) आख्यान को (उक्त्वा) कहकर (श्रुत्वा, च) सुनकर भी (मेधावी) विवेकी पुरुष (ब्रह्मलोके) ब्रह्म के पद में (महीयते) बड़ाई को प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ (१७)

भावार्थः—अब दो श्लोकों में उक्त उपाख्यान का फल वर्णन करते हैं। जो जिज्ञासु भक्ति और श्रद्धा के साथ इस उपाख्यान को (जो मृत्यु ने नचिकेता के प्रति उप-

देश किया है) सुनते और सुनाते हैं वे कालान्तर में ब्रह्मज्ञान के अधिकारी बनकर ब्रह्म के पद को प्राप्त होते हैं ॥१६॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥ (७१)

सरलार्थः—(यः) जो पुरुष (प्रयतः) सावधान होकर (इमम्) इस (परमम्, गुह्यम्) परमगुप्त आख्यान को (ब्रह्मसंसदि) ब्राह्मणों की सभा में (वा) या (श्राद्ध-काले) श्रद्धा से किये जाने वाले सत्कार्य्य के अवसर पर (श्रावयेत्) सुनावै (तत्) वह (आनन्त्याय) अनन्त फल की प्राप्ति के लिये (कल्पते) समर्थ होता है ॥

भावार्थः—जो पुरुष इस पवित्र उपाख्यान को ब्रह्मज्ञान के अधिकारियों की सभा वा श्राद्धादि सत्कर्मों के अनुष्ठान के अवसर पर सुनते, सुनाते हैं, उन का आत्मा उत्तरोत्तर पवित्र संस्कारों से युक्त होता हुवा अनन्त फल की प्राप्ति के लिये समर्थ होता है । द्विर्वचन वीप्सा और वल्ली की समाप्ति जताने के लिये है ॥ १७ ॥

इति तृतीया वल्ली समाप्ता ।

अथ चतुर्थी वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥(७२)

सरलार्थः—(स्वयम्भूः) परमात्मा ने (खानि) इन्द्रियों को (पराञ्चि) बाह्य विषयों पर गिरने वाला (व्यतृणत्) किया है (तस्मात्) इस कारण मनुष्य (पराङ्) बाह्य विषयों को (पश्यति) देखता है (न, अन्तरात्मन्) अन्तरात्मा को नहीं, (कश्चित्) कोई (आवृत्तचक्षुः) ध्यानशील (धीरः) विवेकीपुरुष (अमृतत्वम्) मोक्ष को (इच्छन्) चाहता हुवा (प्रत्यगात्मानम्) अन्तःकरणस्थ आत्मा को (ऐक्षत्) ध्यानयोग से देखता है ॥ १ ॥

भावार्थः—अब आत्मज्ञान के प्रतिबन्धों को कहते हैं। चक्षुरादि इन्द्रिय स्वभाव से ही रूपादि विषयों पर गिरने वाले हैं। इस लिये इन का अनुगामी पुरुष केवल बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। कोई धीर पुरुष ही जिस ने अपने इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटा लिया है, मोक्ष की इच्छा करता हुवा ध्यानयोग से उस अन्तरात्मा को देखता है ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥ (७३)

सरलार्थः—जो (बालाः) अज्ञानी पुरुष (पराचः) बाह्य पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुवे (कामान्) विषयवासनाओं के (अनुयन्ति) पीछे भागते हैं (ते) वे (विततस्य) फैले हुवे (मृत्योः) मृत्यु के (पाशम्) फांसे को (यन्ति) प्राप्त होते हैं, (अथ) और (धीराः) विवेकी पुरुष (ध्रुवम्) निश्चल (अमृतत्वम्) मोक्ष को (विदित्वा) जानकर (इह) यहां (अध्रुवेषु) अनित्य पदार्थों में सुख को (न, प्रार्थयन्ते) नहीं चाहते ॥२॥

भावार्थः—अज्ञानी पुरुष इन्द्रिय और विषयों के संयोग होने पर वासना रूप रज्जु से आकर्षित हुवे उन पर टूट पड़ते हैं, परन्तु वे उस मृत्यु के पाश को जो इन विषयों के भीतर फैला हुवा है उन पक्षियों के समान जो दाने के लोभ से व्याध के जाल में गिर पड़ते हैं, नहीं देख सकते—परिणाम यह होता है कि वे मृत्यु-रूप व्याध के खाद्य (शिकार) बनते हैं। परन्तु विवेकी पुरुष जो ज्ञानदृष्टि से इन के परिणाम को देखते हैं, वह संसार के इन अनित्य पदार्थों में (जिन में सुख का आभास मात्र है, वास्तविक सुख नहीं) जी नहीं लगाते। किन्तु उस अनामय पद की प्राप्ति के लिये जहां न शोक है न मोह, न भय है न दुःख, सर्वदा यत्न करते हैं॥२॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते॥
एतद्वै तत्॥ ३ ॥ (७४)

सरलार्थः- (येन) जिस (एतेन, एव) इस ही आत्मा की सत्ता से, प्राणी (रूपम्) रूप (रसम्) रस (गन्धम्) गन्ध (स्पर्शान्) स्पर्श (च) और (मैथुनान्) रतिजन्य सुखों को भी (विजानाति) जानता है, तब (अत्र) यहां (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रहजाता है? (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ ३ ॥

भावार्थः-इन्द्रियां ज्ञानोपलब्धि में स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु जिस का सत्ता वा शक्ति से यह अपने नियत अर्थों को ग्रहण करती हैं वही ब्रह्म है। जब सारे प्रत्ययों का निमित्त वही है तब उस के जान लेने पर क्या शेष रह जाता है? कुछ भी नहीं। यदि कहो कि उक्त प्रत्ययों का निमित्त देहाभिमानी आत्मा है, नकि परमात्मा? तो इस का उत्तर यह है कि देहाभिमानी आत्मा भी उस आत्म-शक्ति के आश्रित होने से (जो चराचर पदार्थों में व्याप्त हुई सब को नियमपूर्वक चलारही है) उक्त प्रत्ययों का स्वतन्त्र कारण नहीं है क्योंकि स्वतन्त्र या अनपेक्ष्य कारण तो वही हो सकता है जो किसी की अपेक्षा नहीं रखता। सो ऐसा केवल ब्रह्म है ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥४

सरलार्थः-(येन) जिस से (स्वप्नान्तम्) स्वप्नावस्था के अन्त (च) और (जागरितान्तम्) जाग्रत् अवस्था के अन्त (उभौ) इन दोनों को (अनुपश्यति) अनुकूल देखता है, उस (महान्तम्) सब से बड़े (विभुम्)

व्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकशील (न, शोचति) शोक से व्याकुल नहीं होता ॥ ४ ॥

भावार्थः–उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं। संसार के समस्त व्यवहार स्वप्न और जाग्रत् अवस्था के भीतर ही होते हैं। मनुष्य जाग्रत् के व्यवहारों की स्वप्न में मानसिक रचना करता है और स्वाप्न अर्थों की जाग्रत् में समालोचना करता है। बस इन्हीं के चक्र में पड़ा हुवा ठोकरें खाता है और कहीं शान्ति नहीं पाता। यह दोनों अवस्थायें जो मनुष्य को रातदिन भय और संशय के आवर्त्त में घुमा रही हैं, केवल परमात्मा की दया से ही शान्त और अनुकूल हो सकती हैं अर्थात् आत्मरत पुरुष प्रतिदिन इन अवस्थाओं में प्रवेश करता हुवा भी संसार के व्यवहारों में लिप्त नहीं होता, किन्तु वह सदा इन को ब्रह्म के साथ और ब्रह्म को इन के साथ देखता हुवा शोक से मुक्त होता है ॥ ४ ॥ (७५)

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् । ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥ ५ ॥ (७६)

सरलार्थः–(यः) जो पुरुष (इमम्) इस (मध्वदम्) कर्मफल भोगने वाले (जीवम्) जीवात्मा के (अन्तिकात्) समीपवर्त्ती (भूतभव्यस्य) हुवे और होने वाले जगत् के (ईशानम्) स्वामी (आत्मानम्) परमात्मा को (वेद) जानता है (ततः) उस से (न, विजुगुप्सते) भय को

प्राप्त नहीं होता (एतत्, वै, तत्) यही उस ब्रह्मज्ञान का फल है ॥ ५ ॥

भावार्थः—जो जन इस कर्मफल भोगने वाले जीवात्मा के समीप ही विद्यमान अर्थात् इस में अनुप्रविष्ट हुवे उस चराचर और भूत भव्य जगत् के अधिष्ठाता परमात्मा को जानते हैं उन को फिर किस का और क्या भय हो-सकता है? कुछ भी नहीं ॥ ५ ॥

यः पूर्वं तपसोजातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ।
एतद्वै तत् ॥ ६ ॥ (७७)

सरलार्थः—(यः) जो जीवात्मा (अद्भ्यः) पञ्चभू-तों से (पूर्वम्) पहले (अजायत) प्रकट हुवा (तपसः) ज्ञान वा प्रकाश से भी (पूर्वम्) पहले (जातम्) वर्त्तमान (गुहाम्) बुद्धि में (प्रविश्य) प्रवेश कर (भूतेभिः) कार्यकारण के साथ (तिष्ठन्तम्) स्थित परमात्मा को (व्यपश्यत) देखता है (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥

भावार्थः—पञ्चभूतों की उत्पत्ति से पहले ज्ञान वा प्रकाश था, वह ज्ञान और प्रकाश भी जिस से प्रकट होता है, जो कार्य और कारण दोनों में व्याप्त होकर बुद्धि में स्थित, है अर्थात् बुद्धि ही जिस को जान सकती है, वही ब्रह्म है॥६॥

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजा-
यत । एतद्वै तत् ॥ ७ ॥ (७८)

सरलार्थः- (या) जो (देवतामयी) प्रकाशयुक्त (अदितिः) अखण्डित अर्थात् भ्रम और सन्देह से रहित बुद्धि (प्राणेन) प्राण के संयम से (सम्भवति) उत्पन्न होती है और (या) जो (तिष्ठन्तीम्) ठहरे हुवे (गुहां) अन्तःकरण में (प्रविश्य) प्रवेश कर (भूतेभिः) शरीरादि के साथ (व्यजायत) प्रकट होती है । (एतद्वै तत्) यही ब्रह्मज्ञान का साधन है ॥ ७ ॥

भावार्थः-जो बुद्धि यम नियमादि के सेवन से शुद्ध और भ्रमरहित एवं प्राण के संयम से विकाशित होती है और जो अन्तःकरण में प्रविष्ट हुई शरीरादि के साथ प्रकट होती है उस के द्वारा ही योगी लोग उस ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । दिवे दिवईड्योजागृवद्भिर्हवि-ष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वै तत् ॥८॥ (७९)

सरलार्थः-(जागृवद्भिः) ज्ञानियों से (हविष्मद्भिः मनुष्येभिः) कर्मकाण्डी मनुष्यों से भी (अग्निः) परमात्मा (गर्भिणीभिः) गर्भिणी स्त्रियों से (सुभृतः) अच्छे प्रकार धारण किये हुवे (गर्भ इव) गर्भ के समान तथा (अरण्योः) दोनों अरणियों में (निहितः) व्याप्त (जातवेदाः इव) भौतिक अग्नि के समान (दिवे, दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) उपासना करने के योग्य है (एतत्, वै, तत्) वही ब्रह्म है ॥ ८ ॥

भावार्थः-जैसे अग्नि दोनों काष्ठों में व्यापक है परन्तु विना संघर्षण के उत्पन्न नहीं होता एवं गर्भिणी की कुक्षि में गर्भ विद्यमान है परन्तु विना यथोचित आहाराचार के वह सुरक्षित नहीं रह सकता, इसी प्रकार परमात्मा भी यद्यपि सर्वत्र व्यापक है तथापि जो अपने हृदयमन्दिर में प्रति दिन और प्रतिक्षण उस की उपासना नहीं करते उन को वह अप्राप्य है। तात्पर्य यह है कि जैसे गर्भिणी का ध्यान प्रतिक्षण गर्भ में ही लगा रहता है इसी प्रकार मुमुक्षुजनों को ब्रह्मपरायण होना चाहिये ॥ ८ ॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ ९ ॥ (८०)

सरलार्थः-(यतः) जहां से (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है (च) और (यत्र, च) जिस में ही (अस्तं) लीन (गच्छति) हो जाता है। (तम्) उस परमात्मा को (सर्वे, देवाः) सारे देवता (अर्पिताः) प्राप्त हैं (तत्, उ) उस ब्रह्म का (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं कर सकता (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥९॥

भावार्थः-सब देवताओं में बड़ा और प्रधान होने से सूर्य यहां पर उपलक्ष माना गया है अर्थात् जिस के सामर्थ्य से सूर्य उत्पन्न होता है और उस में ही विलीन हो जाता है। अन्य भी वायु आदि सारे देवता रथनाभि में अराओं की भांति जिस में अर्पित हैं अर्थात् उसी की दी हुई शक्ति से अपनी २ परिधि में काम करते हैं, वही ब्रह्म

है और उस का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता ॥९॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥ (८१)

सरलार्थः—(यत्) जो ब्रह्म (इह) इस जन्म में हमारे कर्मों का व्यवस्थापक है (तत्, एव) वह ही (अमुत्र) पर जन्म में भी हमारा नियन्ता है और (यत्) जो (अमुत्र) पर जन्म में हमारा ईशिता है (तत्) वह (अनु, इह) यहां पर भी अध्यक्ष है। (यः) जो पुरुष (इह) इस ब्रह्म में (नाना, इव) भिन्न भाव की भी (पश्यति) दृष्टि करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (आप्नोति) पाता है ॥ १० ॥

भावार्थः—जैसे योनिभेद अथवा अवस्थाभेद से जीव के गुण, कर्म, स्वभाव बदल जाते हैं, ऐसे ब्रह्म के नहीं। वह तो सदा एकरस होने से जैसा अब है वैसा ही पहले था और वैसा ही आगे रहेगा। जो उस एक और अद्वैत ब्रह्म में नानात्व की कल्पना करते हैं अर्थात् अनेक भाव और बुद्धि उस में रखते हैं वे वारंवार मृत्यु का ग्रास बनते हैं ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति यइह नानेव पश्यति॥११॥(८२)

सरलार्थः—(इदम्) यह ब्रह्म (मनसा, एव) ज्ञान-पूता बुद्धि से ही (आप्तव्यम्) जानने योग्य है (इह) इस ब्रह्म में (नाना) भेद भाव (किञ्चन) कुछ भी (न, अस्ति) नहीं है (यः) जो भेदवादी (इह) इस ब्रह्म

में (नाना, इव) अनेकत्व की सी (पश्यति) कल्पना करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (गच्छति) जाता है ॥ ११ ॥

भावार्थः–उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं। जो ब्रह्म केवल ध्यान से पवित्र की हुई बुद्धि से जाना जाता है उस में नानात्व बुद्धि होने से मनुष्य उस सेवक की भांति जिस के कई स्वामी हों, भ्रान्ति में पड़ जाता है। इस लिये उस में नानात्व की कल्पना करने वाला अर्थात् उस में भिन्न२ बुद्धि रखने वाला कभी शान्ति को नहीं पाता ॥११॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।
एतद्वै तत् ॥ १२ ॥ (८३)

सरलार्थः–(भूतभव्यस्य) भूत और भविष्यत् का (ईशानः) अध्यक्ष (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा (अङ्गुष्ठमात्रः) अंगूठे के बराबर हृदय पुण्डरीक में रहने वाला (आत्मनि) शरीर के (मध्ये) बीच में (तिष्ठति) रहता है (ततः) उस के ज्ञान से (न विजुगुप्सते) कोई ग्लानि को नहीं पाता (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥१२॥

भावार्थः–हृत्पुण्डरीक जो जीवात्मा का निवासस्थान है उस का परिमाण अङ्गुष्ठ के बराबर है। यद्यपि पुरुष होने से ब्रह्म उस में बद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह एकरस होने से सर्वत्र परिपूर्ण है तथापि जीवात्मा के तादात्म्य सम्बन्ध से और उस ही देश में ध्यानयोग द्वारा उस की प्राप्ति होने से शरीर के मध्य में उस की स्थिति कही गई है।

समवाय सम्बन्ध से गुण सदा अपने गुणी में रहते हैं। जो मनुष्य गुणों को गुणी से पृथक् जानता है अर्थात् गुण में ही द्रव्य बुद्धि रखता है वह आत्मतत्व को नहीं जान सकता, किन्तु उन गुणों में ही रमण करता है ॥ १४ ॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥१५॥

सरलार्थः—हे (गौतम) नचिकेता ! (यथा) जैसे (शुद्धे) स्वच्छ और सम देश में (शुद्धम्) स्वच्छ (उदकम्) जल (आसिक्तम्) सींचा हुवा (तादृग्, एव) वैसा ही (भवति) होता है (एवम्) इसी प्रकार (विजानतः) जानने वाले (मुनेः) मननशील का (आत्मा) ज्ञाता (भवति) होता है ॥ १५ ॥ (८६)

भावार्थः—मृत्यु नचिकेता से कहता है कि हे गोतम के पुत्र ! जैसे स्वच्छ और सम धरातल भूमि में सींचा हुवा जल तद्रूप हो जाता है, ऐसे ही विज्ञानी पुरुष का आत्मा सरल और समदर्शी हो जाता है अर्थात् जल में मलिनता और कुटिलता तभी तक है जब तक वह शुद्ध और समभूमि में प्राप्त नहीं होता, इसी प्रकार जीवात्मा में भी मालिन्य और कौटिल्य तभीतक रहता है, जब तक यह उस शुद्ध और शान्त ब्रह्म का आश्रय नहीं लेता ॥ १५ ॥

इति चतुर्थी वल्ली समाप्ता।

अथ पञ्चमी वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वै तत्॥१॥

सरलार्थः--(अवक्रचेतसः) सरल चित्त वाले (अजस्य) अनुत्पन्न जीवात्मा के (एकादशद्वारम्) ग्यारह दरवाज़े वाले (पुरम्) शरीर को (अनुष्ठाय) अनुष्ठान करके (न, शोचति) नहीं सोचता (च) और (विमुक्तः) मुक्त हुवा (विमुच्यते) छूटता है (एतत्, वै, तत्) यही उस विज्ञान का फल है॥१॥(८७)

भावार्थः--जो राजा अपने पुर के दरवाज़ों को (जिन में होकर नगर में प्रवेश किया जाता है) दृढ़ और सुरक्षित रखता है, उस को शत्रु का भय नहीं होता। इसी प्रकार जो मनुष्य इस ग्यारह दरवाज़े * वाले शरीर को वर्णाश्रमसम्बन्धी धर्म के पालन और अनुष्ठान से दृढ़ और पवित्र बना लेते हैं, वे तीनों ऋणों से §मुक्त होकर मोक्ष के अधिकारी बनते हैं॥१॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत्॥२॥(८८)

---

* शरीर के ग्यारह दरवाज़े ये हैं। दो आंख के, दो कान के, दो नाक के, एक मुंह का, एक पायु का, एक उपस्थ का, एक नाभि का और एक कपाल का॥

§ तीन ऋण ये हैं १ देवऋण २ ऋषिऋण ३ पितृऋण॥

सरलार्थः-(हंसः) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला जीवात्मा (शुचिषद्) शुद्ध देश में स्थित (वसुः) अनेक योनियों में वास करने वाला (अन्तरिक्षसत्) हृदयाकाश में स्थित (होता) यज्ञादि का सेवन करने वाला (वेदिषत्) स्थलचारी (अतिथिः) अभ्यागत के समान एकत्र स्थिति न रखने वाला (दुरोणसत्) कुटीचर (नृषत्) मनुष्यशरीरधारी (वरसत्) देव और ऋषि शरीरधारी (ऋतसत्) ब्रह्म अथवा सत्य में प्रतिष्ठित (व्योमसत्) नभश्चारी (अब्जाः) जलचर (गोजाः) पृथिवी में उत्पन्न होने वाले वनस्पत्यादि (ऋतजाः) क्षत्रिय ओषध्यादि (अद्रिजाः) पर्वतों में उत्पन्न होने वाला भी (ऋतम्, बृहत्) अपने स्वरूप से अविचल है ॥२॥

भावार्थः-जीवात्मा अपने कर्मानुसार अनेक गतियों को प्राप्त होता है, वही इस श्लोक में दिखलाई गई हैं। कहीं यह स्थलचर होकर पृथिवी में विचरता है और कहीं जलचर होकर जल में निवास करता है। एवं कहीं नभश्चर होकर आकाश में गमन करता है। कहीं वनस्पति और ओषध्यादि में आकर प्रकट होता है और कहीं मनुष्य, देव, ऋषि आदि के शरीर में प्रविष्ट होकर जन्म लेता है। यद्यपि कर्मानुसार जीवात्मा अनेक योनियों को प्राप्त होता और भिन्न २ दशाओं का अनुभव करता है, तथापि अपने स्वरूप से नित्य और अपरिणामी है ॥२॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवाउपासते ॥३॥ (८९)

सरलार्थः—जो साधक (प्राणम्) प्राण वायु को (ऊर्ध्वम्) हृदय से ऊपर मस्तक में (उन्नयति) ले जाता है (अपानम्) अपान वायु को (प्रत्यक्) हृदय से नीचे उदर में (अस्यति) फेंकता है (मध्ये) बीच में (आसीनम्) स्थित (वामनम्) सेवनीय जीवात्मा को (विश्वे, देवाः) समस्त प्राण और इन्द्रियां (उपासते) सेवन करते हैं ॥३॥

भावार्थः—कण्ठ और नाभि के बीच में हृत्पुण्डरीक देश है, जहां जीवात्मा अपने परिषद्वर्गसहित विराजमान है। वहां उस की सेवा में समस्त प्राण और इन्द्रिय (जैसे भृत्यजन अपने स्वामी की सेवा में तत्पर होते हैं) तत्पर हैं। प्राण वायु को हृदय से ऊपर और अपान वायु को नीचे लेजाने से आत्मा को अवकाश मिलता है, जिस में वह उस प्रकाश को देखता है, जिस से यह सारा जगत् प्रकाशित होरहा है ॥ ३ ॥

अस्य विस्रंस्यमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ।
एतद्वै तत् ॥ ४ ॥ (९०)

सरलार्थः—(अस्य) इस (शरीरस्थस्य) शरीरस्थ (देहिनः) आत्मा के (विस्रंस्यमानस्य) विध्वंस होते हुवे अर्थात् (देहात्) देह से (विमुच्यमानस्य) पृथक् होते हुवे (अत्र) यहां (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रहा जाता है (एतत्, वै, तत्) यही उस ब्रह्मप्राप्ति का साधन है ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो जिस के होने से होता और न होने से नहीं होता वह उसी का समझा जाता है। यह अस्म

रादि का शरीर प्राण एवं इन्द्रियकलापसहित आत्मा की विद्यमानता से ही विचेष्टित होता है। जब आत्मा इस विशरण होने वाले शरीर से पृथक् हो जाता है तब इस में कुछ भी शेष नहीं रहता, अर्थात् न प्राण चेष्टा कर सकते हैं और न इन्द्रियां अपने अर्थों को ग्रहण कर सकती हैं, अर्थात् सारी शक्तियां और उन के काम इस के शरीर से अलग होते ही बन्द हो जाते हैं। अतः सात्मक ही शरीर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का भी साधन हो सकता है ॥ ४ ॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥

सरलार्थः-(कश्चन) कोई भी (मर्त्यः) मनुष्य (न, प्राणेन) न प्राण से (न, अपानेन) न अपान से (जीवति) जीता है (तु) किन्तु (यस्मिन्) जिस में (एतौ) यह दोनों (उपाश्रितौ) आश्रित हैं (इतरेण) उस प्राण अपान से भिन्न आत्मा से (जीवन्ति) जीते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः-प्राण और अपान से कोई प्राणी नहीं जीता क्योंकि वे अपनी क्रिया के करने में स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु ये सब जिस के आश्रित हैं अर्थात् जिस के होने से अपनी २ क्रिया करते हैं और न होने से नहीं, वही इन सब का अधिष्ठाता आत्मा है और उसी से सब प्राणी जीवन धारण करते हैं ॥ ५ ॥ (९१)

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ! ६

सरलार्थः-हे (गौतम) गौतमवंशोत्पन्न ! (हन्त) कृपापूर्वक (ते) तेरे लिये (इदम्) इस (गुह्यम्) अप्रकट (सनातनम्) अनादि (ब्रह्म) आत्मा को (प्रवक्ष्यामि) कहूंगा (च) और (यथा) जैसे (मरणम्) मृत्यु को (प्राप्य) प्राप्त होकर (आत्मा) जीवात्मा (भवति) होता है ॥ ६ ॥ (९२)

भावार्थः—मृत्यु नचिकेता से कहता है कि हे गौतम ! मैं तेरे लिये उस सनातन ब्रह्म का उपदेश करूंगा जिस के जानने से मनुष्य मुझ को जीत लेता है और उस को न जानने की दशा में जिस प्रकार यह जीवात्मा बारम्बार मेरे वश में होकर जन्म धारण करता है, वह भी तेरे प्रति कहता हूं ॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्

सरलार्थः-(अन्ये) कोई (देहिनः) प्राणी (यथाकर्म, यथाश्रुतम्) अपने २ कर्म और तज्जनित वासनाओं के अनुसार (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिये (योनिम्) उत्तम योनियों को (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (अन्ये) कोई घोर पापाचारी (स्थाणुम्) स्थावर योनियों को (अनुसंयन्ति) मरणानन्तर प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ (९३)

भावार्थः—जो जन ब्रह्मज्ञान से विमुख हैं वे क्लेश, कर्म, विपाक और आशय की रज्जु में बन्धे हुवे नाना प्रकार के जाति, आयु और भोगरूप फलों को प्राप्त होते हैं । जिन के शुभ कर्म अधिक हैं वे देवत्व या

ऋषित्व को, जिन के शुभाऽशुभ दोनों बराबर हैं वे मनुष्यत्व को और जिन के अशुभ कर्म अधिक हैं वे तिर्यक् योनियों को प्राप्त होते हैं। जब तक वे उस शुद्ध और निर्विकल्प पद के अधिकारी नहीं बनते तब तक इसी प्रकार जन्म मरण के चक्र में घूमते हैं॥ ७॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृत मुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्॥ ८॥ (६४)

सरलार्थः-(यः, एषः) जो यह अन्तर्यामी (पुरुषः) सब में व्याप्त (कामं, कामम्) यथेच्छ (निर्मिमाणः) सब जगत् को रचता हुवा (सुप्तेषु) सोते हुवे जीवों में (जागर्ति) जागता है (तत्, एव) वही (शुक्रम्) शुद्ध (तद्, ब्रह्म) वही सब से बड़ा (तद्, एव) वही (अमृतम्) अपरिणामी (उच्यते) कहा जाता है (तस्मिन्) उसी ब्रह्म में (सर्वे, लोकाः) सब लोक (श्रिताः) ठहरे हुवे हैं (तद्, उ) उस को (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं कर सकता। (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है॥ ८॥

भावार्थः-अब इस श्लोक में पुनः परमात्मा का वर्णन है। जो पुरुष त्रिगुणात्मक प्रकृति से सारे जगत् को निर्माण करता हुवा सत्, रज, तम इन तीन गुणों का यथायोग्य विभाग करता है और आप उन गुणों में लिप्त नहीं होता तथा उक्त गुणों की शय्या में सोते हुवे जीवा-

त्माओं को भी कर्मानुसार फल देकर जो जागता रहता है, वही शुद्ध और सनातन ब्रह्म है । उसी में ये पृथिव्यादि समस्त लोक आश्रित हैं । उस का कोई भी पदार्थ अतिक्रमण नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥ (९५)

सरलार्थः-(यथा) जैसे (एकः, अग्निः) एक ही भौतिक अग्नि (भुवनम्) लोक में (प्रविष्टः) व्याप्त हुआ (रूपं, रूपम्) प्रत्येक रूपवान् वस्तु के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला (बभूव) हो रहा है (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब का अन्तर्यामी परमात्मा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक वस्तु के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला सा प्रतीत होता है (च) किन्तु (बहिः) उन के रूपादि धर्मों से वह पृथक् है ॥ ९ ॥

भावार्थः—अब अग्नि के दृष्टान्त से परमात्मा की व्यापकता का निरूपण करते हैं । जैसे एक ही अग्नि भिन्न २ पदार्थों में प्रविष्ट हुआ तत्तदाकार में प्रतिभाषित होता है, वस्तुतः अग्नि उन से पृथक् है । इसी प्रकार वह अन्तर्यामी परमात्मा भी सम्पूर्ण पदार्थों में व्यापक हुआ अज्ञानी पुरुषों को तत्तदाकारवान् सा प्रतीत होता है। वास्तव में वह उन से अत्यन्त भिन्न व विलक्षण है ॥९॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा

रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥ (९६)

सरलार्थः-(यथा) जैसे (एकः, वायुः) एक ही वायु (भुवनम्) लोक में (प्रविष्टः) फैला हुवा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला (बभूव) हो रहा है। (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का आत्मा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला सा प्रतीत होता है (च) किन्तु (बहिः) वह उन से पृथक् है ॥१०॥

भावार्थः-अब उसी आत्मसत्ता को वायु के दृष्टान्त से निरूपण करते हैं। इस का आशय भी पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ १० ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥ (९७)

सरलार्थः-(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (सर्वलोकस्य) समग्र संसार की (चक्षुः) आंख है। पर (चाक्षुषैः, बाह्यदोषैः) चक्षुःसम्बन्धी बाह्य दोषों से (न, लिप्यते) लिप्त नहीं होता (तथा) ऐसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तर्यामी आत्मा (बाह्यः) उन से अलग (लोकदुःखेन) संसार के दुःख से (न, लिप्यते) लिप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

भावार्थः-अब उसी विषय को सूर्य के दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं। जैसे सूर्य दर्शनहेतु होने से सारे जगत् की आंख है अर्थात् सूर्य के ही प्रकाश से अस्मदादि की

आंखें भी प्रकाशित होती हैं। आंखों में व्याप्त हुवा भी सूर्य का प्रकाश आंखों के दोषों से दूषित नहीं होता। इसी प्रकार समग्र संसार में व्याप्त हुवा आत्मा भी सांसारिक दोषों में लिप्त नहीं होता, किन्तु सदा उन से पृथक् रहता है ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥ (६८)

सरलार्थः—(एकः) एक (वशी) सब जगत् को वश में रखने वाला (सर्वभूतान्तरात्मा) सब का अन्तर्यामी है (यः) जो (एकं रूपम्) समष्टि रूप से एक प्रधान कारण को (बहुधा) व्यष्टिरूप से नाना प्रकार का (करोति) करता है (ये) जो (धीराः) ध्यानशील (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में स्थित परमात्मा को (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उन को (शाश्वतम्) सनातन (सुखम्) मुक्ति का सुख प्राप्त होता है (इतरेषाम्, न) अन्य संसारी पुरुषों को नहीं ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो एक इस अनन्त ब्रह्माण्ड को अपने अटल नियमों से चला रहा है, जिस की आज्ञा वा नियम के विरुद्ध कोई काम जगत् में नहीं हो सकता और न कोई पदार्थ जिस का अतिक्रमण कर सकता है, जो सृष्टि की आदि में एक प्रकृति को नाना नाम रूपों में परिणत करके इस कार्यरूप जगत् को विस्तार देता है। उस अन्तर्यामी रूप से सब में अवस्थित परमात्मा को ध्यान

योग से जो धीर पुरुष देखते हैं वह मुक्ति को प्राप्त होकर उस परमानन्द का अनुभव करते हैं, जिस को संसारी पुरुष कदापि उपलब्ध नहीं कर सकते ॥ १२ ॥

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥ (९९)

सरलार्थः-(अनित्यानाम्) अनित्य पदार्थों में (नित्यः) नित्य (चेतनानाम्) चेतनों में भी (चेतनः) चेतन (बहूनाम्) बहुतसों में (एकः) एक है (यः) जो जीवों के प्रति (कामान्) कर्मफलों को (विदधाति) विधान करता है (तम्) उस (आत्मस्थम्) अन्तर्यामी को (ये) जो (धीराः) ध्यानशील (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उन को (शाश्वती शान्तिः) परमशान्ति है (इतरेषाम्, न) औरों को नहीं ॥ १३ ॥

भावार्थः-जो परमात्मा अनित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन और बहुतसों में एक है और जो जीवों के लिये यथायोग्य कर्मफलों का विधान करता है । उस को जो ध्यानयोग से देखते हैं वे परमशान्ति के भागी बनते हैं, अन्य नहीं ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परं सुखम्। कथन्नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

सरलार्थः-जिस (परमं, सुखम्) परमानन्द को (तत्, एतत्, इति) " वह यह है " इस प्रकार (अनिर्देश्यम्)

अङ्गुली निर्देश से कहने अयोग्य (मन्यन्ते) मानते हैं (तत्) उस को (कथं नु) कैसे (विजानीयाम्) जानूं (किम्, उ) क्या वह (भाति) प्रकाशित होता है (वा) या (विभाति) स्वयं प्रकाश करता है ॥ १४ ॥ (१००)

भावार्थः-जो सुख अनिर्देश्य है अर्थात् "वह यह है" इस प्रकार अङ्गुली से निर्देश नहीं किया जा सकता, उस को हम किस प्रकार जान सकते हैं ? क्या वह ब्रह्म जो उस आनन्द का कारण माना जाता है, प्रकाश के तुल्य भासित होता है अथवा सूर्यादि के सदृश स्वयं भास-मान है ? यह प्रश्न है ॥ १४ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥ (१०१)

सरलार्थः-(तत्र) उस ब्रह्म में (सूर्यः) सूर्य (न, भाति) नहीं प्रकाश कर सकता (न, चन्द्रतारकम्) चन्द्र और तारागण का प्रकाश भी वहां मन्द पड़ जाता है (इमाः विद्युतः) यह बिजलियां भी (न, भान्ति) वहां नहीं चमक सकतीं (अयम्) यह (अग्नि) भौतिक अग्नि (कुतः) कहां से प्रकाश करे, किन्तु (तम् , एव, भान्तम्) उस ही स्वयं प्रकाशमान से (सर्वम्) सब सूर्यादि (अनुभाति) प्रकाशित होते हैं (तस्य) उस के (भासा) प्रकाश से (इदं, सर्वम्) यह सब (विभाति) स्पष्टरूप से प्रकाशित होता है ॥ १५ ॥

भावार्थः–इस से पहले श्लोक में पूछा गया था कि वह ब्रह्म सूर्यादि के समान प्रकाशित होता है अथवा स्वयं प्रकाश है। इस श्लोक में उस का उत्तर दिया जाता है कि उस ब्रह्म में यह सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बिजुली आदि कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकते फिर अग्नि की तो कथा ही क्या है किन्तु ये सब सूर्यादि उसी से प्रकाशित होकर प्रकाशक बनते हैं, वह स्वयंप्रकाश होने से किसी के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि प्रलय में भी जब सूर्यादि का प्रकाश नहीं रहता, वह हिरण्यगर्भरूप से (जिससे सारे प्रकाश उत्पन्न होतेहैं) अवस्थित रहताहै॥१५॥

इति पञ्चमी वल्ली समाप्ता

–*–

अथ षष्ठी वल्ली प्रारभ्यते

–*–

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ एतद्वै तत्॥१॥(१०२)

सरलार्थः–(ऊर्ध्वमूलः) ऊपर को मूल है जिस का (अवाक्शाखः) नीचे को शाखा हैं जिस की, ऐसा (एषः) यह (अश्वत्थः) अनित्य संसाररूप वृक्ष (सनातनः) प्रवाह से अनादि है। उक्त अनित्य परन्तु अनादि वृक्ष जिस के आधार में स्थित है वह ब्रह्म (तद्, एव, शुक्रम्) इत्यादि पूर्ववत्॥१॥

भावार्थः-कार्य के देखने से कारण का ज्ञान होताहै इस लिये इस कार्यरूप जगत् को अधिष्ठान मानकर इस के अधिष्ठाता ब्रह्म का निरूपण किया जाता है। इस समस्त सृष्टि में मनुष्य के प्रधान होने से उस के ही शरीर का वृक्षालङ्कार से वर्णन करते हैं। जैसे वृक्ष का मूल नीचे को और शाखा ऊपर को होती हैं, इस के विपरीत इस मनुष्य शरीररूप वृक्ष का मूल अर्थात् शिर नीचे को और हस्त पादादि शाखायें ऊपर को होती हैं। अश्वत्थ इस को इस लिये कहा गया है कि यह कल को ठहरेगा या नहीं इस का कुछ भी भरोसा नहीं। सनातन इस लिये है कि प्रवाह से अनादि है अर्थात् जगत् के साथ २ यह भी चला आता है। बस यह मनुष्यशरीर जिस में प्रधान है ऐसे इस विचित्र जगत् को रचकर जिस ने अपनी अमित महिमा का प्रकाश किया है वह ब्रह्म है, उसी में यह सारा संसार ठहरा हुवा है। इस के नियमों का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता ॥ १ ॥

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥२

सरलार्थः-(यत्, किञ्च) जो कुछ (जगत्) संसार है (इदम्, सर्वम्) यह सब (प्राणे) परमात्मा की विद्यमानता में (एजति) चेष्टा करता है और उसी से (निस्सृतम्) उत्पन्न हुआ है, वह ब्रह्म (उद्यतम्, वज्रम्, इव) हाथ में लिये हुवे शस्त्र के समान (महद्भयम्) भय का हेतु है (ये) जो मनुष्य (एतत्) इस ब्रह्म को

(विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) मृत्यु से रहित (भवन्ति) होते हैं ॥ २ ॥ (१०३)

भावार्थः—यह सब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी की सत्ता से चेष्टा करता है और उसी के भय से संसार के समस्त पदार्थ नियमानुसार अपना २ काम कर रहे हैं कोई उस की मर्यादा को जो मगोरकम में उस ने स्थापित की है, उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इस प्रकार जो उस की सत्ता और महिमा को जानते हैं वे मृत्यु को जीत कर अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥३॥

सरलार्थः—(अस्य) इस ब्रह्म के (भयात्) भय से (अग्निः) अग्नि (तपति) जलता है (भयात्) भय से (सूर्यः) सूर्य (तपति) तपता है (भयात्, च) भय से ही (इन्द्रः) विद्युत् (च) और (वायुः) पवन चमकते और चलते हैं, तथा (पञ्चमः) पांचवां (मृत्युः) काल (धावति) दौड़ता है ॥ ३ ॥ (१०४)

भावार्थः—अब ब्रह्म की भयहेतुता दिखलाते हैं। अग्नि सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु यह पांचों उसी के भय से निरन्तर अपना २ काम कर रहे हैं। हमारे पाठक यहां भय शब्द को देख कर चौंकेंगे और अपने मन में कहेंगे कि क्या अग्नि आदि जड़ पदार्थ भी किसी से डरा करते हैं? इस का उत्तर यह है कि यहां पर भय शब्द केवल इन की नियमानुकूलता बतलाने के लिये प्रयुक्त हुआ है, नकि अस्मदादि के समान भय से शङ्कित वा व्यथित होने में ॥३॥

इह चेदशकद्बोद्धुम्प्राक्शरीरस्य विस्रसः । ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥१०५

सरलार्थः-(चेत्) यदि (इह) इस जन्म में (शरीरस्य) शरीर के (विस्रसः) नाश होने से (प्राक्) पहिले (बोद्धुम्) जानने को (अशकत्) समर्थ होवे तो संसार के बन्धन से छूट जाता है, नहीं तो (ततः) आत्मा के न जानने से (सर्गेषु, लोकेषु) विरचित लोकों में (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिये (कल्पते) समर्थ होता है ॥ ४ ॥

भावार्थः-जो मनुष्य इस शरीर के नाश होने से पूर्व ही उस भय के कारण ब्रह्म के जानने में समर्थ होते हैं, वे भय से मुक्त हो जाते हैं । इतर अज्ञानी पुरुष वारंवार सृष्टि में जन्म धारण कर मृत्यु आदि के भय से कांपते रहते हैं ॥ ४ ॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके । यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्व लोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥ (१०६)

सरलार्थः-(यथा) जैसे (आदर्शे) दर्पण में प्रतिबिम्ब दीखता है (तथा) तैसे (आत्मनि) शुद्ध अन्तः करण में आत्मा प्रतिभासित होता है (यथा) जैसे (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में जागृत वासनोद्भूत संस्कार अविस्पष्ट होते हैं (तथा) तैसे (पितृलोके) सकाम कर्म करने वालों में आत्मा का दर्शन अविविक्त है (यथा) जैसे (अप्सु) जलों में (परीव) चारों ओर से स्पष्ट

अवयव (ददृशे) दीखते हैं (तथा) तैसे (गन्धर्वलोके) विज्ञानी पुरुषों में आत्मा का दर्शन स्पष्ट रूप से होता है। (छायातपयोः, इव) छाया और आतप के समान विस्पष्ट (ब्रह्मलोके) मुक्ति दशा में ब्रह्म का दर्शन होता है ॥ ५ ॥

भावार्थः-जैसी और जितनी स्पष्टप्रतिबिम्ब देखने के लिये स्वच्छ आदर्श की आवश्यकता है, वैसी और उतनी ही पवित्र आत्मा का दर्शन करने के लिये निर्मल एवं शुद्ध भाव से भावित अन्तःकरण की अपेक्षा है। जैसे स्वप्नावस्था में जाग्रत् के व्यवहार स्पष्ट रूप से नहीं दीखते। इसी प्रकार सकाम कर्म करने वालों को यथार्थ रूप से आत्मा का दर्शन नहीं होता। जैसे जल में प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीखता है ऐसे ही ज्ञानी पुरुषों को स्पष्ट रूप से आत्मा का दर्शन होता है। और जैसे छाया और आतप भिन्न २ और स्पष्ट अवगत होते हैं इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष को ब्रह्म और प्रकृति (जिसे माया भी कहते हैं) का भेद और स्वरूप स्पष्टतया अवगत होता है ॥५॥

इन्द्रियाणां पृथाभावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥६॥

सरलार्थः-(पृथगुत्पद्यमानानाम्) अपने २ रूपादि अर्थों को ग्रहण करने के लिए अपने २ अग्न्यादि कारण से पृथक्२ उत्पन्न हुवे (इन्द्रियाणाम्) चक्षुरादि इन्द्रियों का उस चेतनस्वरूप आत्मा से (पृथक्, भावम्)

अत्यन्त पार्थक्य है (यत्) जो (उदयास्तमयौ) उत्पत्ति और विनाश एवं प्रादुर्भाव या तिरोभाव आदि धर्म भी शरीर और इन्द्रियों के ही हैं, आत्मा के नहीं। इस प्रकार (मत्वा) जान कर (धीरः) विवेकी (न, शोचति) शोक नहीं करता ॥ ६ ॥ (१०७)

भावार्थः—जो लोग देहेन्द्रिय के व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं मानते, वे देहादि के नाश में अपना विनाश समझते हुए रात दिन शोकसागर में डूबे रहते हैं, और यह समझते हैं कि मरते ही सारे सुखों का विलोप होजायगा। विपरीत इस के जो आत्मा को शरीर और इन्द्रिय तथा इन के उत्पत्ति और विनाश आदि धर्मों से पृथक् समझते हैं, वे शोक से मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ७
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥८॥

सरलार्थः—(इन्द्रियेभ्यः) शब्दादि अर्थ और उन के ग्राहक श्रोत्रादि इन्द्रियों से (मनः) उन का प्रेरक मन (परम्) सूक्ष्म है (मनसः) मन से (सत्त्वम्) सत्त्वगुण विशिष्ट बुद्धि (उत्तमम्) उत्तम है (सत्वात्) बुद्धि से (अधि) ऊपर (महान्, आत्मा) महत्तत्व है (महतः) महत्तत्व से (अव्यक्तम्) प्रकृतिनामक प्रधान कारण (उत्तमम्) सूक्ष्म है ॥७॥ (अव्यक्तात्) सब के उपादान कारण प्रकृति से (तु) निश्चय (व्यापकः) सब में व्यापक

(च) और (अलिङ्गः, एव) जिस का कोई चिन्ह नहीं ऐसा (पुरुषः) परमात्मा (परः) अत्यन्त सूक्ष्म है (यत्) जिस को (ज्ञात्वा) जानकर (जन्तुः) प्राणी (मुच्यते) छूट जाता है (च) और (अमृतत्वम्) मोक्ष को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ८ ॥ (१०९)

भावार्थः-इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्तत्व, महत्तत्व से प्रकृति और प्रकृति से भी अत्यन्त सूक्ष्म वह ब्रह्म है जो सब में व्यापक और लिङ्गवर्जित है उस ही को जान कर प्राणी देहादि बन्धन से छूटकर मुक्त होता है ८॥

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥ (११०)

सरलार्थः-(अस्य) इस अचिन्त्य और अव्यक्त ब्रह्म का (सन्दृशे) समक्ष में (रूपम्) कोई रूप (न, तिष्ठति) नहीं ठहरता (एनम्) इस को (कश्चन) कोई भी (चक्षुषा) आंख आदि इन्द्रियों से (न, पश्यति) नहीं देख सकता (हृदा) हृदयस्थ (मनीषा) मनन करने वाली (मनसा) बुद्धि से (अभिक्लृप्तः) प्रकाशित हुवा जाना जासकता है। (ये) जो (एतत्) इस को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) अमर (भवन्ति) होते हैं ॥९॥

भावार्थः-जब वह ब्रह्म अलिङ्ग और अव्यक्त है तब उस का दर्शन कैसे हो सकता है? प्रत्यक्ष में उस ब्रह्म कोई रूप नहीं है जो इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सके लिये स्थूलदृष्टि से कोई पुरुष उस को नहीं देख सकता।

हां अन्तःस्थ बुद्धि की मननात्मिका वृत्ति से (जो समस्त सङ्कल्प विकल्पों के शान्त होने से उत्पन्न होती है) इस आत्मज्योति का दर्शन होता है। इस प्रकार जो योगी लोग उस ब्रह्म का दर्शन करते हैं वे अमृत होकर सदा आनन्द पद में रमण करते हैं ॥ ९ ॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

सरलार्थः-(यदा) जब (पञ्च, ज्ञानानि) पांच-ज्ञानेन्द्रियां (मनसा, सह) मन के साथ (अवतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं (च) और (बुद्धिः) बुद्धि भी (न, विचेष्टते) विरुद्ध वा विविध चेष्टा नहीं करती (ताम्) उस को विद्वान् लोग (परमां, गतिम्) सब से उत्कृष्ट मुक्ति की दशा (आहुः) कहते हैं ॥ १० ॥ (१११)

भावार्थः-वह मनीषा बुद्धि क्योंकर प्राप्त हो सकती है ? यह कहते हैं। जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मनसहित ठहर जाती हैं अर्थात् अपने २ विषयों से उपरत होकर निस्तब्ध हो जाती हैं और बुद्धि भी आत्मविरुद्ध विविध चेष्टाओं से निवृत्त हो जाती है, उस को योगीजन परम गति कहते हैं ॥ १० ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

सरलार्थः-(ताम्) उस (स्थिराम्) अचल (इन्द्रियधारणाम्) इन्द्रियों के रोकने को (योगम्, इति) योग

(मन्यन्ते) मानते हैं (तदा) तब (अप्रमत्तः) प्रमाद-रहित (भवति) होता है (हि) जिस कारण (योगः) यह योग (प्रभवाप्ययौ) शुद्ध और शुभ संस्कारों का प्रवर्तक तथा अशुभ और मलिन संस्कारों का निवर्तक है ॥११॥

भावार्थः-उस स्थिर इन्द्रियधारणा को ही योग कहते हैं । पातञ्जल शास्त्र में भी योग का यही लक्षण किया गया है-" योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः " चित्त की वृत्तियों को जो इन्द्रियों के द्वारा बहिर्गत होती हैं, रोकने का नाम योग है । इस योग दशा को प्राप्त होकर मनुष्य विषयों से उदासीन हो जाता है और उस का हृदय शुद्ध भाव और पवित्र संस्कारों से भावित होकर मलिन और नीच संस्कारों से शून्य हो जाता है ॥ ११ ॥ (११२)

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति १३

सरलार्थः-(न, चक्षुषा) न आंख से (न, मनसा) न मन से (नैव, वाचा) न वाणी से ही (प्राप्तुं, शक्यः) पाने योग्य है (अस्ति, इति) है ऐसा (ब्रुवतः) कहते हुवे पुरुष से (अन्यत्र) अतिरिक्त (तत्) वह (कथम्) क्योंकर (उपलभ्यते) प्राप्त हो सकता है ॥१२॥ (उभयोः) अस्ति नास्ति इन दोनों में (तत्वभावेन) तत्व की भावना से (अस्ति, इति, एव) है ऐसा ही (उपलब्धव्यः)

जानना चाहिये (अस्ति, इति, एव) है ऐसा ही (उप लब्धस्य) जानने वाले को (तत्त्वभावः) तत्वभाव (प्रसीदति) प्रसन्न होता है ॥ १३ ॥ (११४)

भावार्थः-वह ब्रह्म न तो वाणी से और न चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सकता है । इसी लिये वह आगम पर श्रद्धा न रखने वाले केवल प्रत्यक्षवादियों को उपलब्ध नहीं होता किन्तु जिन का "है" ऐसा उस पर विश्वास है वही उस को जान सकते हैं। है और नहीं है । इन दोनों में से "नहीं है" ऐसा जो विश्वास रखते हैं, वह इस जगत् को निर्मूल और निराधार मानते हैं, जो कभी हो नहीं सकता । इस लिये " है" ऐसा विश्वास रखकर ही उस को पाना चाहिये क्योंकि उस के बिना कभी तत्वों की सफलता अर्थात् जड़ परमाणुओं में कार्य बनने की योग्यता स्वयमेव हो ही नहीं सकती ॥ १३ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

शब्दार्थः-(यदा) जब (सर्वे, कामाः) सम्पूर्ण काम और उन की वासनायें (ये) जो (अस्य) इस पुरुष के (हृदि) हृदय में (श्रिताः) बसी हुई हैं (प्रमुच्यन्ते) छूटती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (अत्र) इस दशा में (ब्रह्म) परम पुरुष को (समश्नुते) सम्यक् प्राप्त होता है ॥१४॥ (११५)

भावार्थः—जब सारी कामनायें और उन की वासनायें जो चिरकालीन संस्कारों से जीवात्मा के हृदय में बसी हुई हैं, आत्मोपलब्धि से विशीर्ण हो जाती हैं तब यह मनुष्य मुक्त होता है क्योंकि वासना रज्जु के कट जाने से फिर कोई बन्धन का हेतु नहीं रहता। इस दशा में आत्म दर्शन की पूरी २ योग्यता इस को प्राप्त होती है ॥ १४ ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतोभवत्येतावदनुशासनम् ॥१५॥

सरलार्थः—(यदा) जब (इह) इस संसार में (हृदयस्य) हृदय की (सर्वे ग्रन्थयः) सारी गांठें (प्रभिद्यन्ते) टूट जाती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (एतावत्) इतना ही (अनुशासनम्) शास्त्र का उपदेश है ॥ १५ ॥ (११६)

भावार्थः—कामनाओं की जड़ कब उखड़ती है ? यह कहते हैं। जब इस मनुष्य के हृदय की—यह शरीर मेरा है, धन मेरा है, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं; इत्यादि प्रकार के असत् प्रत्ययों को उत्पन्न कराने वाली सारी गांठें (जो अविद्या से पड़जाती हैं) विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान के शस्त्र से छिन्न भिन्न हो जाती हैं तब यह मनुष्य कामनाओं के जटिल एवं गहन चक्र से निकल कर मुक्त हो जाता है। बस यही शास्त्रों का सार रूप उपदेश है ॥ १५ ॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिस्सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमेण भवन्ति ॥१६॥ (११७)

सरलार्थः—(हृदयस्य) हृदय की (शतम्, एका च) एक सौ एक (नाड्यः) नाड़ी हैं (तासाम्) उन में से (एका) एक (मूर्द्धानम्) मस्तक में (अभि निःसृता) जा निकली है (तया) उस नाड़ी के साथ (ऊर्ध्वम्) मस्तक के छिद्र से (आयन्) निकलता हुवा जीवात्मा (अमृतत्वम्) मोक्ष को (एति) प्राप्त होता है (अन्याः) अन्य शत नाड़ियें (उत्क्रमणे) प्राण के निकलने में (विष्वङ्) नानाविध गतियों की हेतु (भवन्ति) होती हैं ॥ १६ ॥

भावार्थः—योगियों के प्राण कैसे निकलते हैं? यह कहते हैं। मनुष्य के हृदय में सब एकसौ एक नाड़ियां हैं, उन्हीं की शाखा प्रशाखायें सारे शरीर में फैली हैं। उन में से एक नाड़ी (जो सुषुम्णा के नाम से प्रख्यात है) हृदय से सीधी मस्तक को चलीगई है। योगियों के प्राण इसी नाड़ी के द्वारा मस्तक के छिद्र में होकर निकलते हैं, जिस से वे पुनः संसार में लौट कर नहीं आते। इस के विपरीत जो आत्मतत्व से बहिर्मुख हैं ऐसे संसारी जन अन्य नाड़ियों के द्वारा अन्य शरीर के छिद्रों से प्राण छोड़ कर नानाविध योनियों में घूमते हैं ॥ १६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥ (११८)

सरलार्थः—(अन्तरात्मा) जो अन्तस्थ आत्मा (पुरुषः) शरीर में व्यापक (अङ्गुष्ठमात्रः) अङ्गुष्ठमात्र स्थान में रहने वाला है, वह (सदा) निरन्तर (जनानाम्) मनुष्यों के (हृदये) हृदय में (सन्निविष्टः) अवस्थित है (तम्) उस को (धैर्येण) धैर्य से (मुञ्जात्, इषीकाम्, इव) मूंज से जैसे सींक को निकालते हैं ऐसे (स्वात्, शरीरात्) अपने शरीर से (प्रवृहेत्) पृथक् करै (तम्) उस को (अमृतम्) न मरने वाला (शुक्रम्) पवित्र (विद्यात्) जाने ॥ १७ ॥

भावार्थः—अब ग्रन्थ का उपसंहार करता हुवा कहता है। मनुष्य को सब से अधिक अपना शरीर प्रिय है, इसी से उस में राग भी अधिक है अर्थात् वह उपात्त शरीर को किसी प्रकार छोड़ना नहीं चाहता किन्तु छोड़ने के नाम से उस को दुःख और उद्वेग उत्पन्न होता है। अतः यही बड़ा भारी बन्धन है, जिस में फंसा हुवा मनुष्य अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। इस लिये मुमुक्षु पुरुष को उचित है कि वह अपने आत्मा को शनैः २ शरीर के बन्धन से पृथक् करे। इस का यह आशय नहीं है कि आत्मघात कर डाले। नहीं २ किन्तु शरीर के होते हुवे उस के सुख दुःखादि धर्मों से आत्मा को पृथक् समझे अर्थात् शरीर मलायतन होने से अपवित्र और अनित्य होने से अपायी है, परन्तु आत्मा असङ्ग होने से शुद्ध और नित्य होने से अविनाशी है। इस लिये वह शरीर और उस के

धर्मों में लिप्त नहीं होता । ऐसा समझने ही से मनुष्य बन्धनों की काट सकता है, अन्यथा नहीं ॥ १७ ॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम् । ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

सरलार्थः-(अथ) अब इस का फल दिखाते हैं (मृत्यु प्रोक्ताम्) मृत्यु से कही गई (एतां, विद्याम्) इस विद्या को (च) और (कृत्स्नम्, योगविधिम्) सम्पूर्ण योग विधि को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (नचिकेतः) नचिकेता (ब्रह्म,प्राप्तः) ब्रह्म को प्राप्त हुवा और (विरजः) विरक्त (विमृत्युः) मृत्युभय से रहित (अभूत्) हुवा (अन्यः, अपि) अन्य भी (यः) जो (अध्यात्मम्, एव) अध्यात्म विद्या को ही (एवं, विद्) इस प्रकार जानता है वह भी संसार से विरक्त होकर मृत्युरहित हो जाता है ॥१८॥ (११९)

भावार्थः-अब इस विद्या का फल वर्णन करते हैं । मृत्युप्रोक्त इस विद्या को सम्पूर्ण योगविधिसहित प्राप्त होकर नचिकेता संसार से विरक्त और जीवन्मुक्त हुवा । अन्य भी जो इस अध्यात्मविद्या को इस प्रकार प्राप्त होगा वह संसार के सब बन्धनों से छूट कर ब्रह्म के अनामय पद को प्राप्त होगा ॥ १८ ॥

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु माविद्विषावहै ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

सरलार्थः-परमेश्वर (नौ) हम दोनों गुरु शिष्यों की (सह) एक साथ (अवतु) रक्षा करे (नौ) हम दोनों का (सह) साथ२ (भुनक्तु) पालन करें। हम दोनों (वीर्यम्) आत्मिक बल को (सह) साथ २ (करवावहै) प्राप्त करें (नौ) हम दोनों का (अधीतम्) पढ़ा पढ़ाया (तेजस्वि) प्रभावोत्पादक वा फलदायक (अस्तु) हो । हम दोनों (मा, विद्विषावहै) कभी आपस में द्वेष न करें और ईश्वर की कृपा से हमारे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों प्रकार के ताप शान्त हों ॥ १९ ॥

भावार्थः-अब अन्त में प्रमादकृत दोषों की शान्ति के लिये गुरु शिष्य दोनों ईश्वर की प्रार्थना करते हैं। हे परमात्मन् ! हम दोनों की एक साथ रक्षा और पालन कीजिये। आपकी कृपा से हम दोनों अपने आत्मिकबल को साथ २ बढ़ावें तथा हमारा पढ़ा पढ़ाया और सुना सुनाया सब फलदायक हो और कभी हम आपस में द्वेष न करें। एवं आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन तीनों तापों से सदा हमारी रक्षा कीजिये। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति षष्ठी वल्ली समाप्ता

इति श्री बदरीदत्तशर्मकृता कठोपनिषद्भाषावृत्तिः समाप्ता